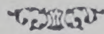
॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४७



कालिदास : एक अनुशीलन

लेखक—

श्री देवदत्त शास्त्री



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

(*Oriental Booksellers & Publishers*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 69
VARANASI 221001
Telephone : 63076

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

*

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
K 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

दो शब्द

देश-विदेश में कालिदास पर इतना अधिक लिखा जा चुका है कि मेरा यह प्रयास मनीषी समीक्षकों के अनुशीलन की तुलना में नितान्त लघु है। कालिदास पर लिखने का मेरा यह प्रयास मेरे लिए वस्तुतः 'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः'—वाली कालिदास की उक्ति चरितार्थ कर रहा है। फिर भी अनन्त अनाद्य सागर को एक अंजलि जल का अर्घ्य देने, सहस्रांशु सूर्य को दीपदान देने का अधिकार मुझे भी है, अपने इसी अधिकार का सदुपयोग करना ही इस पुस्तक के लिखने का मेरा अभिप्राय रहा है, भले ही मेरा प्रयास खोटा हो किन्तु मेरी श्रद्धा पवित्र है। कविकुलगुरु के चरणों में अर्पित मेरी यह वाङ्मयी पुष्पाञ्जलि निरर्थक न हो सकेगी।

मेरा यह दावा नहीं है कि मैंने कालिदास के अध्ययन में अपना जीवन खपा दिया है और न मुझ में इस बात का अहं ही है कि मैंने 'कालिदास : एक अनुशीलन' (सारस्वत कवि कालिदास) लिख कर एक नया मानदंड स्थापित किया है। अपने पूर्ववर्ती अनुशीलनकर्त्ताओं के पथ का अनुसरण करते हुए मैंने जो कुछ लिखा है उसे 'सूत्रे मणिगणा इव' ही समझना चाहिए।

हाँ कुछ वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध विद्वानों के मतों का खण्डन करने की धृष्टता मैंने की है, किन्तु यह कोई अपराध नहीं है। अपने अभिमत को व्यक्त करना व्यक्ति की स्वाधीनता की सीमा के अन्दर ही माना जाता है।

कालिदास के इस अनुशीलन में मुख्यतया मैंने तीन विशेष बातें लिखी हैं—१ कालिदास ईसवी सन् से पूर्व शुंभवंशी अग्निमित्र के

समकालिक थे। २ कालिदास शृङ्गार रस के नहीं करुण रस के कवि थे। ३ कालिदास न तो बंगाल में पैदा हुए न कश्मीर में और न मालवा में। उनकी जन्मभूमि हिमवत् प्रदेश (गढ़वाल) में थी।

मेरी ये मान्यताएँ कितना वज़न और कितना तथ्य रखती हैं इसे नीर-क्षीर-विवेकी आलोचक ही बताएँगे। मैं नहीं कह सकता कि मेरे विचार कहाँ तक सही होंगे किन्तु इतना तो अवश्य है कि इस संबंध में विचार करने की प्रेरणा अवश्य मिलेगी। जिन विद्वानों के ग्रंथों और विचारों से मैंने सहायता ली है उनके प्रति आदर और आभार प्रकट करता हूँ।

—देवदत्त शास्त्री

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति—घुष्यताम् ॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम्

विषय-प्रवेश

अध्याय : १ | भारतीय काव्य-परम्परा और कालिदास

वैदिक काव्य-परम्परा

काव्यात्मक प्रवृत्ति का उद्भव वेद-मंत्रों के रूप में मिलता है। वैदिक-ऋचाओं के द्रष्टा या रचयिता ऋषि-कवि थे। उस समय ऋचाकारों को कवि नहीं ऋषि कहा जाता था। वैदिककाल की कवि-परिभाषा आजकल की परिभाषा से सर्वथा भिन्न थी। जो नित्य नये ज्ञान-विज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन कर दूसरों को भी उसकी अनुभूति कराता था वही[1] कवि था। कवि दिव्य प्रकृति और दिव्य-व्यक्तित्व-सम्पन्न होता था और उसकी प्रतिभा को 'ब्रह्म' कहा जाता था। उस समय की मान्यता थी कि कवि-प्रतिभा (ब्रह्म) ऋतसदन से उत्पन्न हुई है।[2]

वैदिक कवियों ने प्रकृति और संस्कृति के रसात्मक तत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर काव्य-रचना की जो प्रशस्त पद्धति कायम की वह उत्तरोत्तर विकसित और वर्द्धमान होती गई। वेदकाल से लेकर महाकाव्य काल तक का सहृदय कवि प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य-सागर में अवगाहन कर आनन्दविभोर होता रहा है। काव्य की जननी प्रकृति के सहकार से हृदय का संस्कार होता है। और सुसंस्कृत कवि-हृदय की परिपूत भावनाएँ ही काव्य-प्रवृत्तियों का प्रकट करती हैं। इस प्रकार की कविता ही वास्तविक कविता कही जाती है, जो सहृदय

---

१. अवः परेग पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधिप्रजातम्।
ऋ. १।१६४।१८

२. प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्योमाः।
वि सानुना पृथिवी संस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्निः। ऋ. ७।३६।१

कवि या पाठक को आधिभौतिक आकर्षण के घेरे से निकालकर आध्यात्मि
के विस्तृत, विराट् क्षेत्र में ले जाती है। तभी तो सत्काव्य के सामने साम्रा
तुच्छ माना जाता है।[1]

कवि क्रान्तदर्शी माना जाता है इसलिए कि वह सामान्य दृष्टि से अदृश्य वस्तुओं और भावों को अपनी प्रतिभा से देख लेता है, अनुभव लेता है। सत्काव्य के अध्ययन से उसके श्रवण से सहृदय पाठक और श्रो को ऐसे तत्त्व और तथ्य मिल जाते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ होते हैं। इसीलिए क को द्रष्टा, स्रष्टा और प्रजापति कहा जाता है।

राजशेखर का यह कथन नितान्त समीचीन है कि 'सोये हुए महाकवि वाणी शब्द और अर्थ का ज्ञान करा देती है। कवि के बुद्धि-दर्पण में वि प्रतिबिम्बित हो उठता है। महाकवियों के सामने शब्द और अर्थ पहले पहुँच की होड़ लगाते हैं। जिस वस्तु को योगीजन समाधिस्थ होकर देखते हैं उ कवि वाणी द्वारा ही साक्षात्कृत कर लेता है.'

वैदिक कवियों के समक्ष एक यह सनातन सम्प्रश्न उपस्थित था, कि कौन-सा देव है, जिसके लिए हम अपना हविष्य विसर्जन करें—'कस्मै देव हविषा विधेम'। विश्वपति विश्वात्मा का ध्यान करते हुए वैदिक ऋषि अनन्त, अज्ञेय तत्त्व की अनिर्वचनीयता पर मुग्ध होकर यह प्रश्न उपस्थित कि था। इस गरिष्ठ प्रश्न का समाधान उस युग के कवियों ने ही किया। उन समाधान में उनकी चिर उपार्जित ज्ञान-निधि की प्रतिध्वनि निहित है। क समाधान करता है—

'पहले न सत् था न असत् था। न अन्तरिक्ष था और न उससे परे व्यो था कौन कहाँ गतिमान था किसकी शरण थी! क्या उस समय जल और सा गंभीर थे?

'न उस समय मृत्यु थी न अमृत था। न रात थी न दिन था। केव वही अकेला अपनी शक्ति से बिना वायु के प्राणन-क्रियाएँ कर रहा था, व एकाकी था। उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

१. सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् —भर्तृहरि।

सर्वप्रथम उसमें काम उत्पन्न हुआ जो मन का बीज था। ज्ञानी विप्रों ने अन्तःस्तल में खोजते हुए असत् में सत् को ढूँढ़ निकाला।

कौन जानता है और कौन कह सकता है कि कहाँ से यह सृष्टि हुई है? देव सृष्टि की उत्पत्ति के बाद हुए हैं। कौन जाने यह कहाँ से उत्पन्न ?

यह विसृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई है? यह उत्पन्न हुई है या नहीं। जो व्योम में इसका साक्षी द्रष्टा है? वही इसे जानता है। पता नहीं वह भी ा है या नहीं?'[1]

नासदीय सूक्त की इस कवि-वाणी में जितनी निर्भयता, स्पष्टवादिता और त्वता है उतनी शायद भविष्य में किसी कवि में नहीं हो सकती। कवि ब्रह्म को चुनौती देता है कि उसे सृष्टि का, अपनी रचना का ज्ञान है नहीं। कवि के समाधान में उसकी वह विज्ञता भी मुखरित है जो अन्त को भी चुनौती देती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कवि के हृदय में भावों की बिजली कौंधते उस के चमत्कार की प्रतिच्छाया सूक्तों में प्रतिष्ठित कर देता था। वह मय आत्म-विभोर रहता था। वैदिक ऋचाएँ अपने रचयिता कवि की थति का प्रतिनिधित्व करती-सी जान पड़ती हैं। इसीलिए उस समय काव्य ही अधिकांश विरचित हुआ है।

उत्तर वैदिक युग का कवि प्रबन्धकाव्यों की रचना में तत्पर हो गया उस काल में इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि विविध रूपों में काव्यों की रचनाएँ हुईं। उपनिषद् काल में दार्शनिक गीतों की रचना आरम्भ होता है। आध्यात्मिक काव्यों की रचना का सूत्रपात यहीं से है।

ण-महाभारत काव्य-परम्परा

दिक युग अपनी तीन सीढ़ियाँ पार कर समाप्त-सा हो जाता है। समाप्त होते ही ब्रह्मपरायणता, देवपरायणता मानवता के स्तर पर

---

१. ऋग्वेद १०।१२९। १, २, ४, ६, ७

उतर आती है। और वर्णन-शैली में अतिशयता आसन ग्रहण कर है। इस प्रकार की रचनाओं में रामायण और महाभारत काव्य ग्रन्थ प्रधान हैं।

रामायण-महाभारत का युग समाप्त होते ही महाकाव्यकाल आत महाकाव्यकाल की रचनाओं में वैदिक युग, रामायण-महाभारत युग व अनन्त, असीम, विस्तृत काव्य परिधि नहीं रह जाती। और न प्रकृ अनन्त सौन्दर्य की महती गरिमा ही रह जाती है। महाकाव्यकाल का नागरिकता के घेरे में घिर जाता है, वह रस को ही प्रधान मानकर मनो का सर्जन करता है. मानवता और चराचर बन्धुत्व के उदात्त भावों को सा जाता है। वह दृश्यमान जगत् के रमणीय रूप के दर्शन तक ही प्रतिभा को सीमित बना लेता है।

महाकाव्यकाल की परम्परा

महाकाव्यकाल के कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही भारतीय संस्कृति के उदात्त भावों के प्रति जनता की अभिरुचि आकृष्ट की हार्दिक आकांक्षा रखते थे। मानवता की उपासना उनका लक्ष्य दीन, दुखियों, असहायों के प्रति उनकी करुणा सहस्र धाराओं से प्रव होती रही है। यद्यपि इस युग के कवियों को राजाश्रय प्राप्त एक गौरव की बात मानी जाती थी, किन्तु राजाश्रय प्राप्त करने पर महाकवि अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति लिखने के लिए न तो बाध और न विवश। कदाचित् ही किसी कवि ने अपने आश्रयदाता के नुवाद के गीत गाये हों। राजाश्रय उनकी प्रतिभा और प्रतिष्ठा को काने और व्यापक बनाने का एक बहुमूल्य, सम्मानित साधन था। अ दाता राजा स्वयं भी धीरोदात्त गुणसम्पन्न क्रान्तदर्शी, प्रतिभासम्पन्न हुआ करते थे। कवि और राजा परस्पर एक दूसरे पर श्रद्धा और अ रखते थे। राजाश्रय-प्राप्त कवि न केवल अपने व्यक्तित्व का बहु विकास करता था बल्कि वह राष्ट्र के व्यक्तित्व के निर्माण का भी दा होता था।

महाकाव्य काल में प्रधानतया तीन प्रकार के कवि थे—

१—सारस्वत,
२—आभ्यासिक,
३—औपदेशिक ।

पूर्वजन्म के संस्कारों से कवि-प्रतिभा-प्राप्त प्रकृत कवि सारस्वत-कवि कहलाते थे। शास्त्राभ्यास द्वारा कवित्व-शक्ति प्राप्त करनेवाले कवि आभ्यासिक और मन्त्रोपदेश के बल पर प्राप्त कवित्व शक्तिवाले कवि औपदेशिक कहलाते थे।

सारस्वत कवि कालिदास

इस युग के सारस्वत कवि कालिदास सर्वाधिक भाग्यवान् सुकृती कवि माने जाते हैं। कालिदास की कविता में मन्दाकिनी का-सा अम्लान प्रवाह, भागीरथी-सी निर्मलता और प्रकृतिनटी-सा वैचित्र्य निहित है। उसमें शकुन्तला की कमनीयता और उसका भोलापन है, मालविका का सीमा-रहित, अछोर प्रेम है, इन्दुमती का अनिंद्य सान्दर्य है, सुदक्षिणा और सीता के सतीत्व की पावनता है, पार्वती के रक्तिम अधरों की मुस्कान है, राम की मानवता है, रघु का त्याग है और बहुजनसुखाय, बहुजनहिताय की भावना है।

कालिदास ने काव्य के माध्यम से शिवम् की आराधना, सत्यं की प्रतिष्ठा और सुन्दरं की सृष्टि की है, फिर भी 'मन्दः कवियशः प्रार्थी' 'क्वचाल्पविषया मतिः' लिखकर अपनी निरभिमानिनी, निरवद्य प्रतिभा को मुग्धा नायिका ही समझने का प्रस्ताव उन्होंने समाज के समक्ष उपस्थित किया है।

भारतीय काव्य-परंपरा की यह पद्धति कि किसी महामानव के उदात्त चरित्र को काव्य का विषय बनाकर उसके माध्यम से लोक-संग्रह करना—कालिदास का प्रमुख कवि-कर्म था। प्रकृति निर्जीव नहीं है—भारतीय संस्कृति के इस सिद्धान्त के अनुसार कालिदास ने अपने काव्य के माध्यम से प्रकृति में निहित उसके दिव्य तत्त्व का अवलोकन किया है। जिस प्रकार वैदिक ऋषि प्रकृति को मानवता की प्राणवान् सहचरी

मानकर उसकी मनुहार करता है, उपासना करता है, उसी प्र
कवि कालिदास मिट्टी, पत्थर के ढेर हिमालय को देवतात्मा मा
उसके प्राणवान् जीवंत रूप को व्यक्त करता है। वह मानवी
न्तला को निसर्ग कन्या का रूप देकर उसका शृंगार प्रकृति से कराता
कोई वृक्ष उसे क्षौम परिधान प्रदान करता है। कोई पैर रंगने का लाक्ष
प्रदान करता है। किसी ने पुष्पाभरण दिया और वनदेवियों ने आभूषण
उसे सजाया।

सीता का जब हरण होता है। वह विलखती हुई आकाश-पथ से जात
तो उनका अरण्य-रोदन सुनकर वृक्ष अपने आँसू पत्ते के रूप में गिराते
हिरन दुःखी होकर मुँह से घास उगल देते हैं। मयूर नाचना बन्द कर दे
और सारा अरण्य हाय-हाय कर उठता है।

कालिदास रससिद्ध कवि थे। उन्होंने प्रकृति की रसवंती रमणीयता
शब्दों द्वारा चित्रित करना ही शायद अपने काव्य का लक्ष्य बनाया थ
प्रकृति के अनन्त, अपार, असीम वैभव को उन्होंने ऋतुओं के वर्णन द्व
साकारता प्रदान की है। कालिदास के मेघदूत और ऋतुसंहार प्रकृति
विशाल प्राङ्गण के दो ऐसे सरोवर हैं, जिनमें कवि की प्रतिभा कमलपुष्प ब
कर प्रफुल्लित हुई है।

इस रससिद्ध कवि ने अपने काव्य में 'रसो वै सः' की तात्त्विक आराध
की है। कवि की तात्त्विक दृष्टि ने इस रस-दर्शन को भलीभाँति पहच
लिया था कि नवों रसों में से सभी रस आनन्द-निःस्यन्दी हैं। इसीि
उसके काव्य में जीवन की सुखद, दुखद सभी परिस्थितियों में आनन्दम
अनुभूति है। रघुवंश में राम का व्यक्तित्व वनवास मिलने पर उच्च बन
है। शकुन्तला का शील-सौन्दर्य दुश्यन्त द्वारा ठुकराये जाने पर
निखरता है। यक्ष दम्पती का दाम्पत्य-प्रेम विरह से ही समुज्ज्वल अ
अमृत बनता है।

चाहे व्यक्ति हो या समाज अथवा राष्ट्र वह प्रत्येक को शानदार अ
स्वाभिमानी देखने के साथ ही उसे त्यागी और उदार भी देखना चाहता है

वर्णाश्रम-धर्म का समर्थक होते हुए भी कवि गुण और कर्म[1] को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करता है। वह आत्मगौरव को ही व्यक्ति या राष्ट्र का आदर्श मानता है।[2] वह अपने राष्ट्र की तथा सज्जनों की मंगल-कामना, कल्याण-कामना श्री और सरस्वती की युगपद् संगति से चाहता है।[3]



१. पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते
एवं
यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः

२. याच्ञा मोघावरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा
तथा
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्

३. संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्

अध्याय : २ | **कालिदास का समय और स्था**

काल-निर्णय

'साहित्य के इतिहासकारों के लिए कालिदास के समय आदि समस्या ब गये हैं। उनकी भारती इतनी स्पृहणीय थी, कि अनेकों ने कालिदास का ना धारण कर लिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि १००० ई० तक पहुँचं पहुँचते साहित्य में हमें छह-छह कालिदास मिलने लगते हैं और प्रसिद्ध कालिदा को निश्चित करने का कार्य और कठिन हो जाता है।'

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् भगवतशरण उपाध्याय का उक्त कथन नितान समीचीन है।

कालिदास के जीवन और स्थिति-काल के सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रमा मुख्यतया प्रस्तुत किये जाते हैं। एक तो अनुश्रुतिगम्य और दूसर वाङ्मयात्मक।

अधिकांश विद्वान् अनुश्रुतियों को महत्त्व प्रदान नहीं करते हैं, किन यदि विचार किया जाये तो भारतीय इतिहास अनुश्रुति प्रधान वाङ्मय प ही निर्मित हुआ है। पुराण विशुद्ध अनुश्रुतिप्रधान वाङ्मय है, जिनं प्राचीन वंशावलियों का इतिहास है। कुछ समय तक पुराणों को निरर्थ समझा जाता रहा है, किन्तु अब पुराणों के आधार पर इतिहास क अध्ययन प्रचलित हो गया है। अनुश्रुतिगम्य इतिहास से हमें भारत गणराज्यों की सत्ता का यथार्थ परिचय मिलता है। डा० मजुमदार ने अथर्ववेद के आधार पर वीतिहव्य वंश के गणतन्त्र का उल्लेख किया है।

१. डा० रमेशचन्द्र मजुमदारकृत कार्पोरेट लाइफ इन एन्शियेण्ट इंडिया पृ० २२०।

अथर्ववेद के अनुसार ही वीतिहव्य गणतन्त्र के देश और काल का सही परिचय हमें अनुश्रुतियों से यह मिल जाता है कि वीतिहव्यगण हैहयों की एक शाखा थे। उन्होंने काशी के हर्यश्व, सुदेव और दिवोदास को प्रयाग और वाराणसी में हराया था और अन्त में वे प्रदर्दन से पराजित हुए थे।[1]

लिखित, उत्कीर्ण और चित्रित वाङ्मय सदा सर्वत्र प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने में प्रामाण्य माना जाता है। पाश्चात्य इतिहास लेखन-प्रणाली में वाङ्मय को ही प्रधानता मिलती है। तदनुसार उसी प्रणाली का अनुसरण कर भारतीय इतिहास का मूल्यांकन विद्वानों ने किया है।

अनुश्रुतिगम्य और वाङ्मयात्मक दोनों प्रकार के प्रमाणों में कालिदास के जीवन और समय से संबंधित अनुश्रुतिगम्य इतिहास जितनी अधिक मात्रा में उपलब्ध है उतना वाङ्मयात्मक इतिहास नहीं। वाङ्मयात्मक प्रमाण कालिदास के ग्रन्थों से ही उद्धृत कर एक पक्ष ईसा पूर्व विक्रमादित्य से और दूसरा पक्ष गुप्तकालीन चन्द्रगुप्त द्वितीय से कालिदास को जोड़ता है। पक्षधर बनकर कोई निर्णय कभी निष्पक्ष नहीं किया जा सकता है। अपने-अपने पक्ष के समर्थन में खींचा-तानी की जाती है। परिणाम यह होता है कि प्रमाण महज़ बुद्धिविलास बन जाते हैं।

श्री भगवतशरण उपाध्याय बुद्धिवादी समीक्षक हैं। अनुश्रुतियों को वे महत्त्व नहीं देते हैं। हमारी जानकारी म कालिदास के जीवन और कृतित्व पर विशद विवेचन करनेवाले विद्वानों में उपाध्यायजी इस समय सबसे अंतिम हैं। उन्होंने बड़ी बारीकी से कालिदास का अनुशीलन किया है। वाङ्मय के आधार पर उनका अनुशीलन पूर्ववर्ती समीक्षकों से आगे नहीं बढ़ पाया है, किन्तु पुरातत्त्व के आधार पर उपाध्यायजी ने कालिदास के काल-निर्धारण में जो मत व्यक्त किये हैं उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। शिलालेखों के अतिरिक्त चित्रों, मूर्तियों के आधार पर उपाध्यायजी ने यह सिद्ध किया है कि कालिदास के काव्यों में जो वर्णन मिलते हैं, उन्हीं वर्णनों की प्रतीक गुप्तकाल की कला है। इससे कालिदास गुप्तकालीन सिद्ध होते हैं।

---

१. पार्जिटर कृत एन्शियेण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, पृ० १५४।

उपाध्यायजी ने तर्कों द्वारा ही नहीं प्रमाणों द्वारा अपने इस मत की पुष्टि की है। साथ ही उनके मत से भास, सौमिल्ल, कविपुत्र, अश्वघोष, वात्स्यायन आदि कालिदास के पूर्ववर्ती आचार्यों को वे ईसवी पहली शती से लेकर तीसरी शती तक मानते हैं।

उपाध्यायजी की इस मान्यता को असिद्ध तभी बतलाया जा सकता है, जब भास, वात्स्यायन का काल-निर्धारण यथोचित ढंग से किया जाए। भास, सौमिल्ल—कालिदास के पूर्ववर्ती तो अवश्य थे किन्तु अश्वधोष पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। अश्वघोष और कालिदास की रचनाओं में समानता अवश्य है ? परन्तु यह कैसे मान लिया जाए कि कालिदास ने अश्वघोष से उधार लिया है।

संस्कृत साहित्य के इतिहासकार वी० वरदाचार्य ने कालिदास और अश्वघोष की रचनाओं के साम्य पर विचार करते हुए लिखा है कि 'बुद्धचरित और सौन्दरनन्द के कुछ वाक्य और वर्णन कालिदास के ग्रन्थों के वर्णन से मिलते हैं। अश्वघोष ने बुद्ध का राजमार्ग पर निकलने का जो वर्णन किया है, वह कालिदास के कुमारसंभव में शिव के और रघुवंश में अज के राजमार्ग पर निकलने के वर्णन से बहुत अंशों में समान है। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास ने अश्वघोष से ये वर्णन लिए हैं। यह विचार मान्य नहीं है। इन दोनों कवियों के ग्रन्थों में समानता अवश्य है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि कालिदास ने अश्वघोष से उधार लिया है। गौतमबुद्ध दिन में साधारण रूप में राजमार्ग पर जा रहे हैं। इस प्रसंग में अश्वघोष ने लिखा है कि स्त्रियाँ अपनी नींद से उठीं और अपने केशादि प्रसाधन की ओर घ्यान न देकर सहसा बुद्ध के दर्शनार्थ खिड़की पर जाती हैं। यहाँ पर इस प्रसंग में उनकी निद्रा, शृंगार और बुद्ध-दर्शन की अभिलाषा इस बात को प्रकट करती है कि यह वर्णन अप्रासांगिक है और यह अन्य किसी ग्रन्थ से लिया गया है। कालिदास के ग्रंथों में यह वर्णन उन्हीं शब्दों में दुहराया गया है। यदि कालिदास ने यह वर्णन अन्य किसी ग्रन्थ से उद्धृत किया होता तो वह इसको दो स्थलों पर उसी रूप में रखने का साहस न करता। कोई भी व्यक्ति चोरी की वस्तु का प्रदर्शन नहीं करता है। इसके अतिरिक्त कतिपय अप्रचलित व्याकरण-संबंधी प्रयोग जो कालिदास के ग्रन्थों में आए हैं, उनका प्रयोग अश्वघोष के ग्रन्थों में बार-बार आया है। इससे

ज्ञात होता है कि अश्वघोष ने ही कालिदास से भाव लिए हैं, न कि कालिदास ने अश्वघोष से।''[1]

वरदाचार्य महोदय के इस तर्क से हम पूर्ण सहमत हैं कि यदि अश्वघोष कालिदास से पूर्ववर्ती प्रतिष्ठित कवि था और कालिदास ने उससे भाव लिए हैं तो बाद के कवि भी उसका आदरपूर्वक उल्लेख करते। किन्तु किसी भी कवि ने अश्वघोष का न नामोल्लेख किया और न उसकी शैलो का अनुकरण ही किया है। यह नहीं माना जा सकता है कि कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया है और वह उससे अधिक योग्य हो गए। क्योंकि यदि कालिदास को परकालीन माना जाए तो उसके लिए वत्सभट्टि आदर्शकवि हो सकता था। तथ्य यह है कि अश्वघोष मुख्य रूप से एक दार्शनिक था और गौणरूप से कवि। अत: उसने अपने काव्य के लिए एक प्रसिद्ध कवि को आदर्श रखा होगा। उसके काव्यों को देखने से ज्ञात होता है कि उसका आदर्शकवि कालिदास ही है। अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी है और कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० मानना उचित है।'[2]

उपाध्याय जी ने कालिदास द्वारा वर्णित शिव की बरात में चलनेवाली चँवरधारिणी श्रीगंगा और यमुना की मूर्तियों के वर्णन को गुप्तकालीन प्रतीकों से लिया गया सिद्ध किया है। उनका कहना है 'गंगा-यमुना' की चँवर-धारिणी मूर्तियाँ तभी बनने लगी थीं उसके पहले नहीं थीं। देवताओं की मूर्तियों का उल्लेख कवि ने 'मूर्तिमन्त' 'प्रतिमा' और 'देवप्रतिमा' आदि में किया है। ब्रह्मा और विष्णु के सम्बन्ध में भी कवि वही प्रतीक, वही लांछन प्रयुक्त करता है जो मूर्तियों के हैं। इसी प्रकार मयूराश्रयी गुप्तमूर्ति (मथुरा और काशी में) दोहद (स्तम्भों पर) सप्तमातर: (कुषाणकालीन-सप्तमातृका मूर्तियाँ), रावण का कैलास उखाड़ना, लीलारविन्द के लिए लक्ष्मी, किन्नर और अश्वमुखी (मथुरा म्यूजियम) प्रभामंडल, छायामंडल, स्फुटत्प्रभामंडल आदि मूर्तिकला के भी प्रतीक हैं जो आज भी सुरक्षित हैं। कुमारसंभव में जो शिव की निर्वात समाधि का वर्णन है वह वस्तुत: बौद्धों की मूर्तियों के अनुकरण में है।''[3]

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९४।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९५।

३. कालिदास और उनका युग, पृष्ठ १५२।

उपाध्यायजी जब यह स्वीकार करते हैं कि 'कालिदास की भारती इतनी स्पृहणीय बन गई कि अनेकों ने कालिदास का नाम धारण कर लिया और एक हजार ईसवी तक पहुँचते-पहुँचते साहित्य में छह कालिदास मिलने लगते हैं, ?'[१] तब यह भी संभव है कि कवियों की भांति चित्रकारों, मूर्तिकारों और शिला-लेखकों को भी कालिदास की भारती ने प्रभावित किया होगा। कालिदास के वर्णनों के आधार पर परवर्ती चित्रकारों और मूर्तिकारों ने उसी प्रकार चित्रों और मूर्तियों का निर्माण किया होगा जिस प्रकार रामायण, महाभारत, पुराणों और जातकों में वर्णित प्रसंगों के आधार पर कई शताब्दियों तक चित्रों और मूर्तियों के निर्माण होते रहे हैं। जिस कवि की भारती साहित्य के लिए स्पृहणीय बन सकती है वह कला के क्षेत्र में भी स्पृहणीय बन सकती है। वर्तमान काल में भी शाकुन्तल, मेघदूत के आधार पर चित्रों, प्रतिमाओं और नाटकों की रचनाएँ हो रही हैं तो क्या हजार वर्ष बाद का समीक्षक यही अनुमान लगाएगा कि कालिदास बीसवीं शती का कवि था।

इतिहास के साक्ष्य का आधार

कालिदास के गुप्तकालीन माननेवाले भगवतशरण उपाध्याय, मिराशी आदि विद्वान् रघुवंश के 'आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्' का सम्बन्ध गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त से जोड़ते हैं। स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल कालिदास को गुप्तकालीन ही ठहराते हैं, किन्तु 'आनाकरथवर्त्मनाम्' की व्युत्पत्ति करते हुए उन्होंने एक प्रश्न प्रस्तुत किया है कि 'क्या इस श्लोक में आए हुए 'आ--नाक' शब्द का दोहरा अर्थ हो सकता है? यदि आसमुद्र में समुद्र का अभिप्राय गुप्तों से हो सकता है तो फिर 'आ--नाक' के नाक का अभिप्राय भी नाकों अर्थात् नागों से हो सकता है।'[२]

इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कहना यह है कि यदि 'आ—नाक' का सम्बन्ध किसी राजकुल से जोड़ना ही अभीष्ट है तो नागवंश की अपेक्षा शैशुनाक से यह शब्द अधिक निकट संबंध ही नहीं रखता बल्कि ऐतिहासिक सामंजस्य

१. वही, पृष्ठ ४०।

२. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ २६७ की पाद-टिप्पणी।

भी प्रस्तुत करता है। पुराणों के अनुसार मगध में बार्हद्रथ वंश के बाद प्रद्योत वंश और उसके बाद शैशुनाक वंश ने राज्य किया। प्रद्योतवंश अवन्ति में राज्य करता था और शैशुनाकों का समकालीन था।

उक्त पाठ की व्याख्या करते हुए स्वयं जायसवालजी लिखते हैं कि 'मगध ने जब अवन्ति पर विजय किया, तब अवन्ति का वृत्तान्त प्रसंगवश मगध के इतिहास में आया, वह वृत्तान्त मूलपाठ में एक कोष्ठक में या पाद-टिप्पणी के रूप में पढ़ा जाता था। उसके अन्त में यह पाठ था—

········स (त ?) त्सुतोनन्दिवर्द्धनः।

हत्वा तेषां यशः कृत्स्नशिशुनाको भविष्यति'।

यहाँ शिशुनाक का अर्थ था शैशुनाक और वह नन्दिवर्द्धन का विशेषण था। पुराणों, बौद्ध-ग्रन्थों एवं कथासाहित्य से यह जाना जाता है, कि वत्स (कौशाम्बी), अवन्ति और मगध के राजवंशों का पारस्परिक संबंध था। भास के नाटकों तथा अन्य कथा-ग्रन्थों से स्पष्ट है कि वत्सराज उदयन के साथ अवन्ति के प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का विवाह हुआ था। पालक और गोपालक वासवदत्ता के भाई थे। वासवदत्ता के विवाह के बाद उदयन ने मगध के राजा दर्शक की पुत्री और सिंहवर्मा की बहिन पद्मावती से विवाह किया था। मगध के सिंहासन पर दर्शक के बाद उदयन ही अभिषिक्त हुआ था और उदयन के पीछे नंदिवर्द्धन वहाँ का राजा हुआ। नन्दिवर्द्धन उदयन का पुत्र था। पुराण जिसे अज या अजक अथवा सूर्यक लिखते हैं वह वत्सराज उदयन नहीं था। उज्जयिनी में विप्लव उठ खड़ा होने से प्रद्योत का पुत्र उदयन का साला पालक मार डाला गया तो अवन्ति का राज्य भी उदयन के हाथ लग गया और वह अपने जीवन में वत्स अवन्ति और मगध का सम्राट् बना। पालक की मृत्यु के बाद उसका भाई गोपालक उज्जैन के सिंहासन पर रहा किन्तु नाम-मात्र का ही। वास्तविक सत्ता उदयन के पुत्र नन्दिवर्द्धन के हाथ थी। पुराणों ने वत्स, मगध और अवन्ति के राजवंशों को एक में मिलाकर उनका पारस्परिक संबंध बताया है।

नंदिवर्द्धन शैशुनाक वंश का नवाँ राजा और प्रद्योत शाखा का पाँचवाँ राजा था। इनका राजकाल अवन्ति में २० वर्ष और मगध में ४० वर्ष रहा।

नंदिवर्द्धन के बाद शैशुनाक वंश का अन्तिम दसवाँ राजा महानंद या महानंदि था, इसे कथासरित्सागर योगानन्द कहता है। यह बड़ा प्रतापी राजा था, इसके शासनकाल में अवंति राज्य की स्वतन्त्र सत्ता नष्ट होकर प्रान्तीय शासन में परिणत हो गई थी। महानंद ९९ करोड़ स्वर्णमुद्राओं का अधिपति था। नंद वंश का प्रवर्तक यही महानन्द था और इसने नंद संवत् की भी स्थापना की थी। अलबेरूनी ने लिखा है कि नंद संवत् विक्रम से ४०० वर्ष पहले गिना जाता है। चाणक्य द्वारा नन्दवंश का विनाश किए जाने के बाद मौर्यों ने नंदसंवत् का प्रचलन बन्द कर दिया था।

इस विवेचन की तुलना यदि हम रघुवंश से करते हैं तो शैशुनाक नन्द-मौर्य परंपरा के उत्तराधिकारी और साकेत में प्रधानता-प्राप्त शुंगों के शासनकाल में दाशरथि राम के अवतार की महिमा चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई प्रतीत होती है। उस समय ईक्ष्वाकु वंश अमित गौरवशाली समझा जाता रहा होगा। ऐतरेय ब्राह्मण[1] में ऐक्ष्वाकुओं का नैतिक आदर्श आसमुद्र पृथिवी पर विजय प्राप्त करना निहित है। कालिदास उपर्युक्त राजवंशों की ऐतिहासिकता के साथ प्राचीन गाथाओं और ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित ईक्ष्वाकुवंशी राजाओं के यशोगान से पूर्ण परिचित अवश्य थे। उनके सामने मार्कण्डेय पुराण भी रहा, जिसमें ईक्ष्वाकु-वंशी राजाओं का यशोगान था। रघुवंश में उल्लिखित भौगोलिक सामग्री का परिचय भरत के नाट्यशास्त्र[2] से बहुत मिलता-जुलता है। निःसन्देह इन सब विषयों और सामग्री का आकलन, समन्वय कर तथा स्वयं पर्यटन कर कालिदास ने रघुवंश की रचना की है। ऐसे परम आदरास्पद सूर्यवंश में जब महान् कामी अग्निवर्ण उत्पन्न हुआ तो कालिदास ने उसके यक्ष्मापीड़ित होने का निर्देश किया है।

रघुवंश शुंग शासनकाल के अवसान पर लिखा हुआ मालूम होता है। रघु के दिग्विजय तथा गोप्ता आदि शब्दों को लेकर जो यह मान्यता स्थापित की जा रही है कि कालिदास गुप्तकाल का था, तब ऐसी मान्यता स्थापित करने-

---

१. ऐ० ब्रा० ८।४।१५।

२. ना० शा० १३।४८।

वाले समीक्षक अग्निवर्ण को भूल जाते हैं। यदि हम ऐसी ही तुलना करें तो फिर अग्निवर्ण हमें शुंगवंश के अंतिम शासक घोर कामुक देवहुति के समान जान पड़ता है और कालिदास शुंग शासनकाल के जान पड़ते हैं।

कालिदास का चन्द्रगुप्त द्वितीय से संबंध जोड़ने के प्रयास को निरर्थक बतलाते हुए आचार्य सूर्यनारायण व्यास ने लिखा है कि--'जो विद्वान् चन्द्रगुप्त द्वितीय से कवि का नाता जोड़ते हैं, वे यह विचार करें कि द्वितीय चन्द्रगुप्त कभी उज्जैन का सम्राट् नहीं था, उसकी राजधानी पाटलिपुत्र ही थी। कवि ने पाटलिपुत्र में वह आकर्षण कभी नहीं प्रकट किया है जो उज्जैन–मालवा प्रदेश के लिए किया है। वह कैसे राजकवि और राजमित्र या राजसभा का पंडित रहा हो। एक और बात यह कि दशपुर का शिलालेख जिस कलापूर्ण सूर्य-मन्दिर के निर्माण की चर्चा करता है, वह चन्द्रगुप्त के पूर्व की घटना है। दशपुर के महत्त्व का वर्णन करते हुए कवि उस सौन्दर्य-राशि मंदिर को कैसे भुला सकता? इसके सिवा केवल 'विक्रम' शब्द से यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त से संबंध था। यह यदि हो भी सकता है, तो प्रथम ई० स० पूर्व ५७ वाले विक्रम से ही हो सकता है। द्वितीय चन्द्रगुप्त या यशोधर्मन् से तो परंपराओं को भी सहज संगति न लगती। हाँ, शुंगवंश के अंतिमकाल का चित्र तो रघुवंश से प्राप्त किया जा सकता है। कालिदास ने अपने काव्यों में पाण्ड्यों का वर्णन विशेष रूप से किया है। कहीं भी पल्लवों का नहीं। और ये पाण्ड्य जब भारत में शासक थे, विस्तृत थे। वह काल ईसवी सन् पूर्व प्रथम शती ही था जो कवि का काल हो सकता है। चन्द्रगुप्त-काल में कवि की खींचतान करने पर स्वयं विधुशेखर भट्टाचार्य जैसे पंडित मानते हैं, कि महाकवि इतने असमर्थ न थे कि उन्हें रघुवंश में छिपे शब्दों में कहने की आवश्यकता पड़ती। कालिदास ने 'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्' में उदयन और वासवदत्ता की प्रचलित कथा का उल्लेख कर अपने पूर्ववर्ती भास और उस घटना का ही निर्देश किया है जो उसके आविर्भाव काल के पूर्व घटित हुई थी। यदि चन्द्रगुप्त के काल में कवि का आविर्भाव होता तो इतनी पुरातन-

तम चर्चा को उज्जैन के ग्रामवृद्ध शायद ही स्मरण रख पाते और कवि व स्मृति दिलाने का कारण भी न होता।'[१]

आचार्य व्यास का उक्त कथन युक्तियुक्त है। मालविकाग्निमित्र नाटक अग्निमित्र के जीवन की जिन सूक्ष्म घटनाओं का चित्रण है, उन्हें प्रत्यक्षदश बनकर कालिदास ने अवश्य लिखा है। मेघदूत में विदिशा का जो वर्णन है, व शुंगकालीन राजधानी के रूप में है। ऐसा विश्वास होता है कि कालिदास विदिशा का वैभव राजधानी के रूप में स्वयं देखा था

तथ्य की एक बात यह है कि कालिदास ने मेघदूत में पूर्णिमांत मास क वर्णन न कर अमावस्या से समाप्त होनेवाले मास का वर्णन किया है। यदि वे गुप्तकाल के होते तो गुप्त संवत् के अनुसार पूर्णिमा के होनेवाले मास का वर्ण अवश्य करते।

श्री भगवतशरण उपाध्याय ने कालिदास द्वारा संकेत किये गए लौकिक विश्वासो, उत्सवों, जादू-टोना, यंत्र-मंत्र, औषधि-तंत्र आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए इन सबको गुप्तकालीन माना है और सिद्ध किया है कि कालिदास ने अपने समय के सामाजिक विश्वासों, उत्सवों आदि का उल्लेख किया है।

साहित्य के साक्ष्य का आधार

जब हम प्राचीन साहित्य पर दृष्टि डालते हैं तो अथर्ववेद, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामसूत्र में भी ऐसे ही यंत्र, मंत्र, टोना, टोटका, औषधि, उत्सव और जनविश्वासों का उल्लेख पाते हैं। इसलिए यह कहना नितान्त भ्रममूलक है कि कालिदास ने गुप्तकाल के ही जनविश्वासों और आचारों का वर्णन किया है।

उपाध्यायजी ने अश्वमेध यज्ञ, धार्मिक आचार-विचार, निष्ठा आदि का विशद विवेचन करते हुए यह सिद्ध किया है कि कालिदास द्वारा वर्णित जीवन गुप्तकाल का है। गुप्तकाल के राजा परम भागवत थे।[२]

किन्तु कालिदास की रचनाओं से यह भी प्रकट है कि उन्होंने ऐसे समय मे

---

१. विक्रम सं० २०१०, अक १, संख्या ७७।

२. कालिदास और उनका युग, पृ० १६८।

काव्य-रचना की है, जब बौद्ध-धर्म का पतन हो रहा था और ब्राह्मण-धर्म पुनः प्रतिष्ठापित किया जा रहा था। सेनापति पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया। उपाध्यायजी जिस धार्मिक जीवन को गुप्तकालीन ठहराते हैं, वही धार्मिक जीवन शुङ्गकाल और उसके बाद सातवाहन काल में मिलता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

गुप्तकाल में बृहस्पति और याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण हो गया था, उस समय इन्हीं स्मृतियों का प्रचलन समाज में था। बृहस्पति और याज्ञवल्क्य में चोरी करने पर कोई कठोर दण्ड देने का विधान नहीं है, जब कि शाकुन्तल में अंगूठी चुराने का अभियोग धीवर पर लगने पर उसे प्राणदण्ड देने की व्यवस्था दी जाती है। यह विधान-मनु, वसिष्ठ और आपस्तम्ब धर्मशास्त्रों के अनुसार है। शुङ्गकाल में इन्हीं धर्मशास्त्रों की व्यवस्था मानी जाती रही है।

इसके अतिरिक्त मनु, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ आदि स्मृतिकार विधवा को मृत पति की उत्तराधिकारिणी नहीं मानते हैं और नारद, कात्यायन उसे गुजारा मिलने का अधिकार देते हैं। गौतम और बृहस्पति विधवा को एक भाग का उत्तराधिकार देते हैं। तथा शंख, लिखित और याज्ञवल्क्य विधवा को सम्पूर्ण स्वामित्व प्रदान करते हैं।

शाकुन्तल में मृत श्रेष्ठी धनदास की विधवा को उत्तराधिकार न देकर उसके गर्भस्थ बालक को दिया जाता है। गुप्तकाल में उत्तराधिकार की यह धार्मिक व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार की धार्मिक व्यवस्था ईसवी सन् से पूर्व ही प्रचलित थी। गुप्तकाल में उदयगिरि की गुफाएँ देवमंदिर के रूप में प्रसिद्ध थीं, किन्तु कालिदास के काल में वहाँ की गुफाएँ रति, भोग की रम्यस्थली थीं। मेघदूत में इन गुफाओं का बहुत ही सरस परिचय मिलता है।

डा० राजवली पाण्डेय ने बड़ी योग्यता से यह सिद्ध किया है कि 'ईसा पूर्व ५७ वर्ष में विक्रमादित्य नाम का राजा था और उसकी उपाधियाँ 'विषम-शील', 'साहसांक' और 'शकारि' थीं।

द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा अन्य गुप्त राजाओं ने (समुद्रगुप्त और स्कन्दगुप्त) विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। यह उनका व्यक्तिगत नाम नहीं था। चतुर्थ शती ई० में विक्रमादित्य उपाधि की कल्पना ही इसे प्राचीनकाल में

विक्रमादित्य नाम की सूचना देती है जिसने बाद के राजाओं के अनुगमन क के लिए एक आदर्श उपस्थित किया।'[1]

कालिदास की काव्य-कला की निष्पत्ति का काल कवि के मुख से ही क गया है। मालविकाग्निमित्र के भरतवाक्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि काव्य-रचनाकाल विदिशा के अन्तिम शुङ्ग राजा के शासनकाल में प्रारम्भ होता है और अभिज्ञान शाकुन्तल के भरतवाक्य में उस विक्रमादित्य को सैंक गणों से परिवृत बताया गया है, जिसकी नीर-क्षीर विवेकिनी परिषद् के सम अभिज्ञान शाकुन्तल अभिनीत हुआ है और सूत्रधार ने जिसका विरुद साहसांक बतलाया है। साहसांक विरुदधारी मालव गणतन्त्र का गणमुख्य ईसा पूर्व स्थि विक्रमादित्य ही हो सकता है, गुप्तकालीन विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगु नहीं।

रघुवंश में रघु के दिग्विजय में कालिदास ने रघु द्वारा हूणों को पराजित किए जाने का वर्णन किया है। इस प्रसंग को पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारत में हूणों द्वारा किए जानेवाले आक्रमण से जोड़ा जाता है; हूणों को स्कन्दगुप्त ने खदेड़ा था इसलिए कालिदास ई० ४५० में रहे हैं।

इस मान्यता पर वे सभी समीक्षक एकमत हैं, जो कालिदास को गुप्तकालीन ठहराते हैं। यदि रघुदिग्विजय प्रसंग को निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो उसमे हूण आक्रान्ता नहीं, बल्कि रघु द्वारा पराजित व्यक्त किए गए हैं। डाक्टर राजबली पाण्डेय का कहना है कि 'चीनी इतिहास से ज्ञात होता है कि हूणों ने तृतीय शती ईस्वी पू० से प्रथम शती ईसवी के मध्य में बलख तक अपना शक्ति-शाली साम्राज्य स्थापित किया था। हूणों का साम्राज्य ठीक भारत की देहली पर था तथा भारतवासी हूणों से परिचित थे। यह मान लेना कि भारतवासियों को भारत के बाहर के लोगों का तनिक भी ज्ञान नहीं था, उनके भौगोलिक तथा जातीय ज्ञान के प्रति अन्याय करना है। पारसीक पह्लव, पारद, शक, हूण, कम्बोज, किरात, चीनी लोगों का जो भारत के पड़ोसी थे—भारतीयों को भलीभांति ज्ञान था। कालिदास हूणों, पारसीकों और कम्बोजों में भिन्नता

१. विक्रमादित्य, पृष्ठ २७।

भली-भाँति स्पष्ट करते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालना पूर्ण रूप से ठीक होगा कि कालिदास को हूणों का उल्लेख करते समय प्रथम शती ईसवी पू० मध्य एशिया की जातिगत स्थिति का ज्ञान था। अतएव उन्हें केवल इसलिए पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में नहीं घसीटा जा सकता कि उन्हें हूणों का ज्ञान था।'[1]

पाश्चात्य आलोचकों की भाँति भारतीय आलोचकों ने कुमारसंभव और विक्रमोर्वशी में कुमार और विक्रम नामों से यह निष्कर्ष निकाला है, कि इनमें गुप्त राजाओं का संकेत है। वस्तुतः कुमार शब्द शिव के पुत्र स्वामिकार्तिकेय का ही बोधक है, कुमारगुप्त का नहीं। विक्रम शब्द का विशुद्ध तात्पर्य पराक्रम है। जिस नाटक में पुरूरवा ने अपने विक्रम से उर्वशी को प्राप्त किया है वह विक्रमोर्वशी नाटक कहलाया न कि उसका तात्पर्य चन्द्रगुप्त द्वितीय से है। समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय में पाण्डयराजाओं को अवश्य पराजित किया था, किन्तु इसका सम्बन्ध रघु दिग्विजय से जोड़ना उचित नहीं, क्योंकि रघु ने कावेरी पार कर सम्पूर्ण दक्षिण भारत विजित किया था, समुद्रगुप्त ने ऐसा नहीं किया।

कुछ पाश्चात्य समीक्षक और श्रीभगवतशरण उपाध्याय कालिदास द्वारा प्रयुक्त जामित्र'[2] शब्द को ग्रीक ज्योतिष का शब्द मानकर कालिदास को गुप्तकालीन मानते हैं। वी० वरदाचार्य का यह कथन अत्यन्त समीचीन है कि '........ उनका मन्तव्य है कि सर्वप्रथम ज्योतिष के यूनानी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग आर्यभट्ट (५०० ई०) ने किया है और यह जामित्र शब्द कालिदास ने आर्यभट्ट से लिया है। यह शब्द यूनानी शब्द 'डायमेट्रन' का ही परिवर्तित रूप है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अश्वघोष (१०० ई०) के काव्य में भी उन्हें इस प्रकार के परिवर्तित रूप मिले हैं। परन्तु वे इस आधार पर उसका समय बाद का नहीं मानते। उसी प्रकार के शब्द कालिदास ने प्रयुक्त किए हैं परन्तु वे कालिदास का समय ५०० ई० से पूर्व रखने को उद्यत नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके निर्णय कितने पक्षपातपूर्ण हैं। इन शब्दों की उत्पत्ति और इनके प्रयोग के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित है कि बाधायन (ई० पू०

---

१. विक्रमादित्य, पृष्ठ ६४।

२. कु० सं०, सर्ग ७–१।

५००) ने अपने गृह्यसूत्रों में इन शब्दों का प्रयोग किया है और इन शब्दों
यूनानी शब्दों का कोई प्रभाव नहीं है। अतः कालिदास के समय-निर्धारण
उक्त युक्ति असार ही है।"[1]

सर विलियम जोन्स, डा० पीटर्सन जैसे पाश्चात्त्य विद्वान् एवं वी० वर
चार्य, केशवभाई ध्रुव, डा० नन्दर्गीकर, र० पं० कंगले, डा० राजबली पाण
कन्हैयालाल पोद्दार और आचार्य सूर्यनारायण व्यास जैसे भारतीय समीक्षकों
कालिदास का स्थिति-काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी माना है। स्व० ध्रुवजी
अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कवि के काल-निर्धारण में अपनी मौलिक सूझ
परिचय दिया है। उन्होंने भास, अश्वघोष, वसुबन्धु, पतंजलि, सुबन्धु, भारवि, मा
विशाखदत्त, श्रीहर्ष और भवभूति आदि अनेक कालिदास के पूर्ववर्ती, परवर्ती कवि
का समय निरूपण करते हुए कवि-प्रयुक्त छन्दों पर विचार किया है। उन्हों
यह बताया है कि पूर्ववर्ती कवियों ने किन किन छन्दों का व्यवहार किया
और परवर्ती कवियों ने क्रमशः किन-किन नये छन्दों को अपनाया है। ध्रुव
ने प्रत्येक कवि की रचनाओं में प्रयुक्त छन्दों की एक विस्तृत सूची तैयार
है। और उन छन्दों की यति, गति और विरामों पर भी सूक्ष्मता से विच
प्रकट किया है। उन्होंने बताया है कि प्राचीन काव्यों में अनुष्टुप् और आख्य
नकी (उपजाति) छन्दों की अधिकता है। कालिदास के रघुवंश की छन्दः-सू
को प्रस्तुत करते हुए ध्रुवजी ने बताया है कि १९ सर्गों के इस महाकाव्य
अनुष्टुप्, आख्यानकी, रथोद्धता, वंशस्थ, द्रुतविलंबित और वियोगिनी छ
प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, हरिणो, मालिनी आ
क्वचित्-क्वचित् प्रयुक्त हुए हैं। रघुवंश के उन्नीस सर्गों में ६ सर्ग अनुष्टुप्
हैं और आठ सर्ग आख्यानकी में हैं। शेष सर्गों में अन्यान्य छन्द हैं।

अश्वघोष के बुद्धचरित में केवल १३ सर्ग हैं। उनमें से ३ सर्ग अनुष्टुप्
और ८ आख्यानकी में हैं। इन दोनों कवियों ने केवल सम और अर्द्धसम वृ
लिखे हैं। किन्तु उनके परवर्ती भारवि ने विषम और माघ ने जाति श्रेणी
छन्द लिखे हैं। प्राचीन कवियों के काव्यों में माघ और भारवि द्वारा प्रयु

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९२।

न्द नहीं मिलते हैं। कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में १२ अक्षरों से धिकवाले एक भी व्यापक और १७-१८ अक्षरों से अधिकवाले एकदेशीय न्द नहीं हैं। किन्तु भारवि और माघ की रचनाओं में यह अक्षर-संख्या १३-५ से १७-२१ तक पहुँच गई है। इस छन्दोगणना के सिद्धान्त से स्व० ध्रुवजी सिद्ध किया है कि कालिदास, भारवि और माघ तथा अश्वघोष से पूर्व-र्ती हैं।

गुप्तकाल के स्वर्णयुग मानने के साथ विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के पुन-र्गिरण का काल भी उसे माना है। इस तरह के विचार उन मनीषियों के हैं जो कालिदास को गुप्तकालीन सिद्ध करते हैं।

यदि हम ईसा पूर्व तीसरी शती के साहित्य का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि उस युग में संस्कृत छन्दों का वर्ण-संगीत, वैदिक छन्दों का स्वर-संगीत और प्राकृत छन्दों का ताल-संगीत नाट्यशास्त्र के निरूपणों के अनुसार पूर्ण विकसित हो चुका था। नाद-सौन्दर्य का क्रमिक विकास हमें ऋग्वेद[१] और वाल्मीकीय रामायण[२] में मिलता है। और वही तोलिकाप्पिअम्[3], नाट्यशास्त्र[४] तथा थेरीगाथाओं के शब्दालंकारों में परिष्कृत शिल्प के रूप में मिलता है।

शब्द माधुर्य का विकास तो हमें शैशुनाकों के समय से मिलता है जबकि शैशुनाक राजाओं ने अपने राजप्रासाद में कटुश्रुत टकारादि वर्णों के उच्चारण का सर्वथा निषेध किया था। यास्क[५], पाणिनि[६], भरत[७] और पतंजलि ने जिन सादृश्यमूलक अलंकारों के प्रयोग के सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं उस परम्परा को कालिदास ने अपनी उपमाओं द्वारा विकसित कर उपमाओं का सार्वभौम सम्राट्—पद प्राप्त किया।

---

१. ऋग्वेद, ३।६८।

२. वा० रा०, ५।६–९।

३. तो०, ८८–९०।

४. ना०, १६।६०–८३।

५. नि०, ३।३-४।

६. अष्टा०, २।१।५५–५६।

७. ना०, १६।४१–५६।

नाट्यशिल्प का प्राथमिक शिल्प-विकास हमें ऋग्वेद[1] की पुरूरवा-उर्व नाट्य–गीतिका से लेकर पाणिनि द्वारा उल्लिखित कृशाश्व और शिलालि के शास्त्रों से लेकर भास के नाटकों तक समुन्नत रूप में दिखायी पड़ता है इस नाट्यशिल्प का चरम विकास नाट्यशास्त्र[2] पर जाकर ठहरता है।

मालविकाग्निमित्र नाटक को छोड़कर कालिदास के सभी नाटक ऋचाका एवं ब्राह्मणकाल की वाणी के विषय बने हुए हैं। मालविकाग्निमित्र नाटक रस-सागर में डूबे हुए राजा अग्निमित्र को कालिदास ने उसकी रानी द्वा झिड़कियाँ दिलाकर भारत के सीमान्त में शक आक्रान्ताओं का अस्त कराने उत्तरदायित्व निबाहा है। सेनापति पुष्यमित्र और उसके पौत्र वसुमित्र विजय की बधाई देने के लिए ही मालविकाग्निमित्र-नाटक की रचना उद्देश्य जान पड़ता है।

रामायण-महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि उस युग में का म्बरी, हर्षचरित की भाँति लम्बे समासों का प्रचलन नहीं था। कौटलीय अ शास्त्र[3] राजाज्ञाओं के पाठ में ग्राम्यशब्दों के प्रयोग के साथ ही तीन से अधि शब्दों के समास के प्रयोग का निषेध करता है। इससे जाहिर है कि कौटिल्य काल में तीन से अधिक शब्दों के समास भी बनने लग गए थे। कालिदास काव्यों में हमें कौटिलीय अर्थशास्त्र द्वारा निर्धारित नियम मिलते हैं।[४]

नाट्यशास्त्र की गवाही से पता चलता है कि एक अर्थ प्रकट करने लिए नामों का विभक्ति के लोपपूर्वक समूहन को समास कहा जाता है। प्राकृ और अनार्य भाषाओं की विभक्तिहीनता ही समासों की जन्मभूमि हो सकत है। ईसा पूर्व प्रथम शती में जब गणराज्यों का फिर उदय हुआ तो शायद आ (सम्राटों द्वारा अधिकृत) क्षेत्रों में प्राकृतभाषा, लोकभाषा और धर्मभाषा रूप में स्वीकृत हुई होगी। आगे चलकर प्राकृत से ही संस्कृत में लम्बे समा

---

१. ऋ०, १०।९५।

२. ना० शा०, १८।

३. अर्थशास्त्र, २।१०।

४. ना० शा०, १४।३७।

घर कर लिया। विक्रमोर्वशी नाटक[1] से यह सिद्ध होता है कि कालिदास की समास-विरल संस्कृत भाषा, प्राकृत भाषा की भाँति चार-चार, पाँच-पाँच शब्दों के समास से मुक्त हो गई है।

कालिदास ने अपने नाटकों में जिस प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है वह मागधी है। मागधी की यह शैली ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रचलित थी। उसके बाद मागधी प्राकृत का प्रयोग बन्द होता नजर आता है।

भास की भाँति कालिदास के ग्रंथों में भी अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं। बी वरदाचार्य का कहना है कि 'कालिदास का समय प्रथम शती ई० पू० मानने के समर्थन में कतिपय साक्ष्य उसके ग्रंथों से उपलब्ध होते हैं। उसने दारवान, विश्राममहतोः, पेलव, त्रियम्बक, आस आदि शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ धातुओं के लिट् लकार के पूर्ण रूप को दो भागों में विभक्त किया गया है। जैसे—'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्'। पाणिनि के व्याकरण के प्रयोग के अनुसार ये प्रयोग शुद्ध नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास उस समय जीवित थे जब पाणिनि और पतंजलि के नियम पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नहीं हुए थे। अतः कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० ही ज्ञात होता हैं।'[2]

ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रंथ में एक उक्ति है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायाः रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥[3]

जिससे ज़ाहिर होता है कि यह उक्ति स्वयं कालिदास की है। अनुश्रुति है, कि विक्रमादित्य के दरबार में धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेताल, घटखर्पर, वराहमिहिर, वररुचि और कालिदास—ये नवरत्न थे। ज्योतिर्विदाभरण छठी शती की रचना है, इसलिए इसके आधार पर समीक्षक कालिदास को गुप्तकालीन ठहराते हैं। किन्तु शंकर पांडुरंग इस श्लोक को बाद में जोड़ा

१. वि०, १४, १२, २३, २८।
२. सं० सा० का इतिहास, पृष्ठ ९५।
३. ज्यो० वि०, २२-१०।

हुआ मानते हैं। यदि यह श्लोक प्रक्षिप्त भी न हो तो भी इसकी मान्यता भं और कालिदास संबंधी किंवदन्तियों की भाँति अस्तित्वहीन हो जाती है हज़ारों वर्षों से विक्रमादित्य सम्बन्धी लोककथाएँ जनकंठ को आह्लादित कर आ रही हैं। आल्हाखंड में उल्लिखित आल्हा, ऊदल के संबंध में जैसे अने किम्वदन्तियों ने घर कर लिया है, वैसे ही विक्रम और कालिदास के संबंध होना स्वाभाविक है।

'कुन्तलेश्वर दौत्यम्' से कालिदास का संबंध जोड़नेवाले आलोच कालिदास को गुप्तकालीन ठहराते हैं। आगे विस्तारपूर्वक बताया जाएगा कि कुन्तल शातकर्णि ईसा पूर्व दशम शती में था और उसका स्मरण वात्स्यायन कामसूत्र में किया है। इस तरह भी कालिदास की स्थिति प्रथम शती ई० पू ठहरती है।

कुछ आलोचक नीतिशतक के रचयिता भर्तृहरि को पाँचवीं या छठी शत का मानकर कालिदास को गुप्तकालीन ठहराते हैं। भाष्यकार पतंजलि महाभाष्य में लिखा है कि 'भर्तृहरि ने एक लाख श्लोक संगृहीत किए थे। भाष्यकार का समय सेनापति पुष्यमित्र के काल में था। वह उसके अश्वमेध यज्ञ के पुरोधा थे। भर्तृहरि के नीतिशतक में शाकुन्तल का श्लोक मिलता है। इससे प्रकट होता है कि भर्तृहरि कालिदास के समकालीन थे।

श्री भगवतशरण उपाध्याय अपने साहित्यिक जीवन की सबसे बड़ी पूँजी कालिदास को मानते हैं। कालिदास पर उनका जितना अध्ययन है कदाचित इतना श्रम अब तक किसी अन्य ने व्यवस्थित पद्धति से नहीं किया है कालिदास के परम प्रशंसक होते हुए उपाध्यायजी को एक शिकायत है कि 'कालिदास सामन्तवाद के समर्थक थे। राजा, सम्राट् शब्दों का जगह-जगह प्रयोग करके उन्होंने एकतंत्र पर अपनी निष्ठा व्यक्त की है।'

हो सकता है कि कालिदास दो प्रकार की शासन-पद्धति की सन्धियों में रहने से एकतंत्र के समर्थक बन गए हों क्योंकि उनका समय अग्निमित्र से लेकर विक्रमकाल तक ईसा पूर्व प्रथम शती हम मानते हैं। शुंगवंशी अग्निमित्र सम्राट् था, एकतंत्र शासन करता था और विक्रमादित्य मालव गणतंत्र का गणमुख्य था।

काव्यों, नाटकों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि कालिदास एकतंत्र की अपेक्षा लोकतन्त्र का ही समर्थक रहा है। 'अविश्रामोऽयं लोकतन्त्राधिकारः' लिखकर कवि ने लोकतंत्र के प्रति अपनी गहरी निष्ठा व्यक्त की है। शाकुन्तल में धनदास श्रेष्ठी के निधन को सुनकर उसकी विधवा को दुष्यन्त जो संदेश भेजता है, उसमें लोकतन्त्र के परिपुष्ट बीज निहित हैं। फिर भी कालिदास ने राजा शब्द का प्रयोग अधिकाधिक किया है। इसलिए हमें राजा शब्द का अध्ययन भाषा-विज्ञान के आधार पर कर लेना उचित जान पड़ता है।

रघुवंश में कालिदास ने लिखा हैं कि—'तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्'[१] इस शब्द की व्युत्पत्ति उज्ज्वलदत्त ने राजृदीप्तौ प्रकृति रञ्जयतीति राजा·······अनेकार्थत्वात् रञ्जनेऽपि वर्तते। 'रञ्जयतीति राजा प्रभुः।[२] भानुजी दीक्षित[3] ने राज् दीप्तौ धातु से ही राजा शब्द को सिद्ध किया है। इन्हीं की भाँति सिद्धान्तकौमुदी[४], श्वेतवनवासी[५], नारायण[६] दशपादी[७], कातन्त्रोणादि[८], भोजीयोणादि[९], चान्द्रोणादि[१०], हैमचन्द्रोणादि[११], सारस्वतोणादि[१२], सिद्धान्तचन्द्रिकोणादि[१३], संक्षिप्तसार व्याकरण[१४], आदि सभी व्याकरण ग्रन्थों ने राजृदीप्तौ धातु से ही राजा शब्द को सिद्ध किया है।

उपर्युक्त श्लोक की टीका में मल्लिनाथ ने लिखा है कि यद्यपि राजन् को सिद्धि दीप्त्यर्थक राज् धातु ने कनिन् प्रत्यय करके होती है, किन्तु धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण कालिदास ने रञ्ज धातु से राजा सिद्ध किया है। पुराणों में राजा शब्द वही व्युत्पत्ति रखता है, जो कालिदास करता है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि 'राजेति नाम वै तस्य अनुरागात्प्रजायत।'[१५] पुराणकार

१. रघु०, ४ – १२।
२. १ – १५६।
३. नानार्थ, ३ – १११।
४. सि० ४३५६।
५. १ – १४२।
६. १ – १४५।
७. ६ – १५१।
८. २ – ३।
९. २, १, २७५।
१०. ३, ७९।
११. ९००।
१२. २२।
१३. १ – ८३।
१४. ०२।
१५. ब्र० पु० पृथुचरित्र।

और कालिदास राजा उसी को कहते हैं जो प्रजातांत्रिक शासन-पद्धति से राज करता हुआ प्रजा को अनुरंजित करे। जब राजा निरंकुश या साम्राज्यवादी होने लगे। प्रजा की स्वतंत्रता का अपहरण करने लगे और उसका अनुरंजन न कर भोग-विलास में समय बिताने लग गये तो राजा शब्द की व्युत्पत्ति राज् दीप्तौ' धातु से की जाने लगी। कालिदास ने जहाँ कहीं राजा शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ उसने अधिकाधिक प्रजा का अनुरंजन करने का भाव रखा है।

इसमें सन्देह नहीं कि समुद्रगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारी गुप्त राजा साम्राज्यवादी थे। उपाध्यायजी कालिदास को इसलिए सामन्तवादी, और साम्राज्यवाद का पोषक कहते हैं कि वह कालिदास को गुप्तकालीन मानते हैं।

गुप्तवंश और शासक

गुप्तों के शासन को स्वर्णयुग या हीरकयुग भले ही कहा जाए किन्तु उस शासन से तत्कालीन जनता सन्तुष्ट नहीं थी। स्व० डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि 'हिन्दुओं ने समुद्रगुप्त का नाम कभी कृतज्ञता से नहीं स्मरण किया है। जिस समय अलबेरूनी भारत आया था उस समय उसने लोगों से यही सुना था कि गुप्त लोग बहुत ही दुष्ट थे।'[1]

गुप्त साम्राज्य के विषय में विष्णुपुराण का मत उद्धृत करते हुए डा० जायसवाल ने लिखा है कि—'मैंने यह इतिहास दे दिया है। इन राजाओं का अस्तित्व आगे चलकर विवाद और सन्देह का विषय बन जायगा। जिस प्रकार स्वयं राम और दूसरे सम्राटों का अस्तित्व आजकल संदेह और कल्पना का विषय बन गया है। समय के प्रवाह में पड़कर सम्राट् लोग केवल पौराणिक आख्यान के विषय बन जाते हैं और विशेषत: वे सम्राट् जो यह सोचते हैं कि भारतवर्ष मेरा है, उन साम्राज्यों को धिक्कार है।'[2]

गुप्तसम्राट् किस जाति के थे अभी तक यह विषय रहस्यमय बना हुआ है। उनके अभिलेखों, मुद्राओं से यह अनुमान लगाया गया है कि गुप्तों ने अपनी उत्पत्ति, उद्गम स्थान, कुल और गोत्र को छिपाने की चेष्टा की है। डा०

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृ० ४६५।

२. विष्णुपुराण, ४, ४२४, श्लोक ६४-७७।

जायसवाल का मत है कि गुप्त लोग धारण उपजाति के थे। महारानी प्रभावती के अभिलेख से उन्होंने यह खोज निकाला है कि वह धारण गोत्र की थी और उसने अपने पिता का गोत्र दिया है, क्योंकि उसके पति का गोत्र भिन्न था।[1]

विज्जका लिखित ईसवी तीसरी शती के कौमुदी महोत्सव नाटक में गुप्त वंश के प्रवर्तक चन्द्रगुप्त के कुल, गोत्र और चरित्र का परिचय भली-भाँति मिलता है। कौमुदीमहोत्सव की लेखिका चन्द्रगुप्त को बहुत घृणा की दृष्टि से इसलिए देखती है कि वह हीनकुल का आर्येतर था। उसकी जाति कारस्कर थी। उसने अपने आश्रयदाता और पालक को मारकर अनुचित रूप से राजसिंहासन प्राप्त किया था और वह हिन्दू-परम्परा के विरुद्ध शासन करता था। वह मगध की प्रजा का शत्रु था, प्रजा भी उसे अनभिषिक्त राजा और अनार्य कहकर उसका तिरस्कार करती थी। उसने लिच्छवियों की सहायता से मगध की प्रजा की स्वतंत्रता को पैरों तले कुचल दिया था। उसी चन्द्रगुप्त का तीसरा पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त था।

यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाये कि कालिदास गुप्तकालीन था तो यह कथमपि नहीं स्वीकार किया जा सकता कि गुप्तवंशी राजाओं को वह इक्ष्वाकुवंशी दिलीप, रघु, राम के समकक्ष तथा कुमारगुप्त को स्वामिकार्तिकेय के तुल्य मानकर उनका गुणानुवाद गायेगा। कालिदास उसी शासन-पद्धति का समर्थक था जिससे प्रजा की स्वतन्त्रता और उसकी प्रसन्नता सुरक्षित रहे। शुंग शासन और मालव संघ इन दो शासन के मध्य स्थित कालिदास कभी भी राष्ट्र-विरोधी, जनविरोधी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का समर्थन नहीं कर सकता है।

डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने मालवों, यौधेयों, मद्रकों, आभीरों, लिच्छवियों के गणतांत्रिक सिद्धान्तों की प्रशंसा करते हुए पुष्यमित्रों की भी सराहना की है। उन्होंने गर्व से कहा है कि इन लोगों में बच्चा-बच्चा तक

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृ० २४९।

२. द्रष्टव्य, कौमुदीमहोत्सव नाटक की भूमिका। —देवदत्त शास्त्री

देश·क्त होता था। गुप्तशासन को जायसवालजी सनातनी सामाजिक-व्यवस्था कहते थे। उनका कहना है कि 'सनातनी सामाजिक-व्यवस्था का हर व्यक्ति देशभक्त हो ही नहीं सकता था।'[१]

समुद्रगुप्त की तुलना सिकन्दर से करते हुए जायसवालजी ने लिखा है कि 'समुद्रगुप्त ने भी सिकन्दर की भाँति अपने देश की स्वतन्त्रतावाली भावना की हत्या कर डाली थी। उसने उन मालवों और यौधेयों का विनाश कर डाला था जो स्वतन्त्रता को जन्म देनेवाले और उसकी वृद्धि करनेवाले थे।'[२]

जिस देश या राज्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सामूहिक चेतना, गणतान्त्रिक भावनाओं को रौंद दिया जाता है, उस देश या राज्य के शासनतन्त्र को स्वर्ण-युग कहना बुद्धि का दिवालियापन साबित होता है। ऐसे शासनतन्त्र में बौद्धिक विकास हो नहीं सकता है। कालिदास जैसा सारस्वती कवि गुप्त शासनकाल में पैदा ही नहीं हो सकता है। वह स्वर्णयुग परमुखापेक्षो युग रहा है। जैसे ब्रिटिश शासन जब भारत में था, तब उसको प्रशंसा करते हुए वर्तमान राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी भारत भारती में जो लिखा है, उसे हम यहाँ पर उद्धृत नहीं करना चाहते हैं। हमने अपने ही जीवनकाल में पराधीनता और स्वतन्त्रता के अनुभव किए हैं। हमें ब्रिटिश शासन की वह घुटन भूली नहीं, जिसकी प्रशंसा गुप्तजी ने शेर और बकरी को एक घाट पर पानी पीते हुए का उदाहरण देकर की है। कदाचित् ऐसा ही स्वर्णयुग गुप्तों का भी रहा होगा, जिसे विष्णुपुराणकार, अलबेरूनी और डा० जायसवाल धिक्कारते हैं।

कालिदास का जन्मस्थान

शाकुन्तल के साक्ष्य का आधार

स्थितिकाल की भाँति कालिदास का जन्मस्थान भी विवादास्पद है। कुछ विद्वान् कवि की जन्मभूमि मालवा सिद्ध करते हैं, कुछ विदर्भ, कुछ बंगाल और कुछ कश्मीर मानते हैं। जन्मस्थान-सम्बन्धी पहचान के लिए हमें कवि का

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४६२।

२ वही, पृष्ठ ४६३।

शाकुन्तल सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम प्रतीत होता है। दुष्यन्त-शकुन्तला की प्रणय-कथा को नाटकीय रूप देने के साथ ही ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने नाटकीय ढंग से अपनी जन्मभूमि का भी स्मरण किया है।

मेघदूत में वर्णित अवन्तिका के वर्णन से कहीं अधिक यथार्थता हमें शाकुन्तल में मालिनी और उसकी तटवर्ती भूमि तथा उस प्रदेश के वर्णन में मिलती है। अभिज्ञान शाकुन्तल में यह पढ़कर कि 'मालिनी नदी के तटों पर जहाँ-तहाँ लता कुञ्ज छाये थे, मानसरोवर जाते हुए हंस-मिथुन सैकत-पुलिनों की ओट में विश्राम के लिए ठहर जाया करते थे और उसके तटवर्ती तरु-कोटरों पर वास करनेवाले वनवासी शुक आश्रमवासी तपस्वियों की भाँति नीवार-कण खाकर गुजर किया करते थे'[1]—आँखों-देखा वर्णन प्रतीत होता है।

उज्जैन की शिप्रा नदी के वर्णन से मालिनी नदी के वर्णन की तुलना करने पर मालिनी के प्रति कालिदास की आत्मीयता कहीं अधिक जान पड़ती है। जिस प्रकार रामायण में सरयू के वर्णन में राम की मातृवत् आस्था और आत्मीयता दिखायी गई है, उसी प्रकार की आस्था और आत्मीयता कालिदास ने मालिनी नदी के सम्बन्ध में प्रकट की है। पुराणों में शिप्रा से कहीं अधिक महिमा मालिनी की गायी गई है। उसे भगवती पार्वती की सखी बताया गया है। पार्वतीजी गंगा को अपनी सौत मानकर उससे जला करती थीं; किन्तु मालिनी के प्रति पार्वतीजी का सदैव आत्मीयभाव रहा है। यही वजह है कि जिस समय शिव-पार्वती का विवाह हो रहा था, उसी समय मंडप में मालिनी ने शिव का हाथ पकड़ लिया। पार्वती की अनन्य सखी समझकर काम को दहन करनेवाले शिव भी उसके इस साहसिक आचरण से अप्रसन्न न हुए बल्कि मुस्कराते हुए उन्होंने उसे अखंड सौभाग्यवती होने का वरदान दिया।[2]

---

१. लतावलयवत्सु मालिनी तीरेषु। —शाकुन्तल, अंक ३।
सैकतलीन हंस-मिथुना। वही, अंक ६। १५१।
नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः। वही, अंक १। १४।

२. ततो हरांघ्रिर्मालिन्या गृहीतो दायकारणात्,
किं याचसे ते दास्यामि मुञ्चस्वेतिहरोऽब्रवीत्।

मालिनी का तट ऋषि-आश्रमों की स्थिति के लिए गंगा से कहीं अधिक सुविधाजनक रहा है। मारीचि और काण्व जैसे मनस्वी; चिरायु ऋषियों के गुरुकुल होने का तात्पर्य मालिनी की आध्यात्मिक और प्राकृतिक सम्पत्ति और सुन्दरता ही है। पुराणों में तथा महाभारत में मालिनी नदी के आध्यात्मिक और प्राकृतिक वैभव का विशद वर्णन मिलता है।[१] यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के यात्रावर्णन में भी मालिनी का वर्णन बहुत ही श्रद्धा से किया गया है। मालिनी प्रदेश में ही सुप्रसिद्ध हेमकूट पर्वत रहा, जिसमें स्वायंभुव मरीचि के पुत्र देवताओं और असुरों के गुरु प्रजापति मारीचि ऋषि सपरिवार रहकर तपस्या करते थे।[२] जिसे देखकर दुष्यन्त ने स्वर्ग से अधिक शान्तिप्रद स्थान कहा था।[3] वहाँ पहुँचकर उसे अनुभव हुआ मानो वह अमृत-सरोवर में प्रविष्ट हो गया।[४]

कालिदास ने कुटज-कुसुम आकीर्ण रामगिरि का जो परिचय मेघदूत में दिया है, उसी भाँति प्रभातकाल में बेरों के फलों पर पड़े हुए ओस के कणों की सुन्दरता द्वारा कण्वाश्रम का परिचय शाकुन्तल में दिया है।

कण्वाश्रम

ऐसा मालूम होता हैं कि पुराणों के युग में कण्वाश्रम सर्वोपरि महि-

---

मालिनी शंकरं प्राह मत्सख्यादेहि शंकर,
सौभाग्यं निज गोत्रीयं ततो मोक्षमवाप्स्यसि।
अथोवाच महादेवो दत्त मालिनिसुव्रताम्,
सौभाग्यं निज गोत्रीय योऽस्यास्ति शृणु वच्मि ते।
अ० ५३, श्लोक ५१, ५२, ५३। —वामन०

१. अपरे मालिनी तीरे।
तथा अलङ्कृत द्वीपनस्था मालिन्या रम्यतीरया।

२. स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः,
सुरासुरः गुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति--अ० शा०, ७।

३. स्वर्गादधिकतरं निर्वृत्तिस्थानम्।

४. अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि। वही।

मामय ऋषि-आश्रम रहा है। प्रायः सभी पुराणों में कण्वाश्रम का श्रद्धापूर्ण वर्णन मिलता है। अनेक पुराणों में उपनिषदों की भाँति कण्व का वंशपरिचय मिलता है। विष्णु, वायु और हरिवंश पुराणों में तो दुष्यन्त और शकुन्तला की कथाएँ लिखित हैं। केदारखण्ड में कण्वाश्रम से लेकर नन्दादेवी तक का क्षेत्र भुक्ति-मुक्ति प्रदायक माना गया है।[1]

अग्निपुराण इसे कोटितीर्थ कहकर स्मरण करता है।[2] पद्मपुराण कण्वाश्रम को मनोज्ञ एवं कल्याणप्रद मानता है।[3] महाभारत के आदिपर्व, अश्वमेधपर्व, शान्तिपर्व, वनपर्व में कण्वाश्रम का विशद वर्णन मिलता है, और अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्वाश्रम का वर्णन कालिदास का इष्टदेव बनकर स्थित है। कण्वाश्रम में घटित दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रणय की कथा उदयन-वासवदत्ता के प्रणय की कहानी से कहीं अधिक लोक-जीवन और साहित्य में समायी हुई है। उदयन-वासवदत्ता की प्रणयकथा तो अब लोकमानस को विस्मृत होकर केवल साहित्य की वस्तु बन गई है, किन्तु राम-सीता, शिव पार्वती की भाँति दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रणय-कथा अब तक जन-मानस को रससिक्त कर रही है। इस के व्यापक प्रभाव से कला भी अतिशय प्रभावित हुई है। इलाहाबाद के निकट पश्चिम में स्थित भीटागाँव में प्राप्त मिट्टी का ठीकरा तथा चौकाघाट के देवालय में संगृहीत प्रस्तरोत्कीर्ण चित्र दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय की गवाही कला के माध्यम से दे रहे हैं। भीटा में उपलब्ध प्लेट चित्र को उसके प्राप्तकर्ता सर जॉन-मार्शल ने उसे दो शती ईसापूर्व निर्मित ठहराया है। उस चित्र में चार घोड़ों के रथ पर राजा दुष्यन्त और सारथी बैठे हैं। रथ की दाहिनी ओर एक कुटिया है, जिसमें अकस्मात् निकली हुई एक युवती दिखाई गई है और राजा को उसकी ओर अपना दाहिना हाथ फैलाए हुए दिखाया गया है। कुटिया के पास भागते हुए दो हरिणों के चित्र हैं। रथ के सामने एक तापस घोड़ों को रोकता हुआ सारथी से बातचीत करता हुआ—सा चित्रित है।

---

१. केदार खंड, अ--५७, श्लोक १०।

२. कण्वाश्रमं कोटितीर्थं। अ० १०९, श्लोक १०।

३. ददर्श सुमनोज्ञं तत्कण्वाश्रमं पदं शुभम्।

भागते हुए हरिणों के पास मयूर भी चित्रित है।

सर जॉन मार्शल इस प्लेट चित्र को दो सौ ईसा पूर्व मानते हैं। कि
हमारा अनुमान है कि यह चित्र शाकुन्तल के प्रचार के बाद ईसवी प्रथम श
में निर्मित हुआ होगा। शाकुन्तल के प्रथम अंक के अनुसार ही इस चित्र
रचना हुई है।

कण्वाश्रम की स्थिति

मैक्समूलर ने 'सेकेण्ड बुक ऑव दि ईस्ट' में वाल्मीकि रामायण में प्रल
नाम से उल्लिखित आजकल के मण्डावर को कण्वाश्रम सिद्ध किया है। मैक्स
मूलर के अनुकरण पर चरिताम्बुधि के लेखक चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद तथा तप
भूमि के लेखक रामगोपाल मिश्र ने मण्डावर को ही कण्वाश्रम मानने का आग्र
किया है। किन्तु भारत सरकार के इम्पीरियल गजेटियर ऑव इण्डिया ने शाय
इसे सदा प्रामाणिक नहीं माना है। इसलिए गजेटियर में मालिनी तट के समी
कण्वाश्रम का उल्लेख किया गया है। 'प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत
भौगोलिक शब्दकोष के लेखक नन्दलाल जी ने कण्वाश्रम को हरिद्वार से ती
मील पश्चिम मालिनी नदी के तट पर माना है। यद्यपि दे महाशय ने मैक्स
मूलर की स्थापना के विरुद्ध मत प्रवर्तन किया है, किन्तु मैक्समूलर चतुर्वे
और मिश्र की मान्यताओं की भाँति उनका भी मत भ्रान्त-धारण का द्योतक है

सुप्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार ने 'भारतीय इतिहास की रूप
रेखा' में कण्वाश्रम की पहचान करते हुए लिखा है कि 'मालिनी' को आजकल
मालिन नदी कहते हैं और गढ़वाल जिले में हिमालय की तराइ में चौकीघाट
के उत्तर आज भी लोग उसके तट पर 'किनकसोत' नाम का एक कुञ्ज दिखा
हैं और उसे कण्व के प्राचीन आश्रम का स्थान कहते हैं'।

सुप्रसिद्ध साहसी पर्यटक श्रीनिधि ने 'मालिनी के वनों में' नामकी पुस्तक
में कण्वाश्रम की जो पहचान चौकी घाटा से की है वह असंदिग्ध है। श्रीनिधि
ने स्वयं महीनों भ्रमण कर भूगोल, इतिहास, साहित्य के अध्ययन के आधार
पर चौकी घाटा को सप्रमाण कण्वाश्रम सिद्ध किया है। उन्होंने गढ़वाल को
किम्पुरुषवर्ष माना है और किन्नरों के इस देश में स्थित चौकी घाटा को प्राचीन

कण्वाश्रम सिद्ध किया है। आपने कण्वाश्रम की पहचान करते हुए शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी द्वारा व्यवहृत शकुन्तला के लिए 'नाडपिती' शब्द और कण्वाश्रम के लिए व्यवहृत 'पड़' स्थान की व्याख्या भाषाविज्ञान, भूगोल और इतिहास के आधार पर करके बताया है कि 'चौकी घाटा और पड़[1] स्थान एकार्थवाची शब्द हैं। यह परिणाम स्वयं निकल आता है कि वह चौकी घाटा पर या दूसरे शब्दों में मालिनी के पश्चिमी तट पर अवस्थित उस ऊँचे पहाड़ी मैदान पर बसा था, जिसमें आज वन-विभाग का नूतन अतिथिगृह बना हुआ है। यह मैं इसलिए कहता हूँ कि कण्वाश्रम पड़ स्थान के उस पर्वतीय भूखण्ड पर बसा था, जो महाभारत के अनुसार देखने में किसी ध्वज की उच्च वेदिका सरीखा (उच्छ्रत ध्वज सन्निभम्) प्रतीत होता हो। मालिनी के तल से लगभग ५० फुट की ऊँचाई पर खड़े हुए इस सुन्दर भूखण्ड के लिए महाभारत के कवि की यह सुन्दर उत्प्रेक्षा इतनी यथार्थ एवं अन्वर्थक है कि 'उसे देखने वाले कोई भी नेत्र उसका अभिनन्दन किये बिना नहीं रह सकते।'

आपने अपने इस मत की अभिज्ञान शाकुन्तल से तुलना करते हुए लिखा है कि 'कालिदास का मत तो अत्यन्त स्पष्ट है। उन्होंने कण्वाश्रम को मालिनी तटवर्ती हिमगिरि की उपत्यका में अवस्थित माना है।

एष खलु कण्वस्य महर्षेरनुमालिनीतीरम् आश्रमो दृश्यते।

एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः।

मगर हिमगिरि की उपत्यका से कहीं कोई भ्रम में न पड़ जाए, उसे और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने उस स्थान पर अवस्थित बताया है जहाँ हिमालय की शाखाएँ समाप्त हो रही हैं। पादास्तामभितो निषण्णहारिणा...... निर्णय इतना स्पष्ट है कि उसके और अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। उसके आधार पर चौकीघाटा के अतिरिक्त दूसरे किसी स्थान पर कण्वाश्रम को अवस्थित बताने का प्रयत्न अत्यन्त हास्यास्पद ही सिद्ध होगा।

कालिदास ने कण्वाश्रम की स्थिति और उसके व्यास का परिचय 'अनु-

---

१. गढ़वाली भाषा में चौकी या पड़ाव को 'पड़' कहा जाता है।

—श्रीनिधि

मालिनी तीरम्' लिखकर केवल एक शब्द में दे दिया है। इस शब्द का रह बोध कराते हुए 'मालिनी के वनों में' के लेखक ने बताया है कि अनु अ का निर्दिष्ट वस्तु के साथ तभी समास होता है जब निर्दिष्ट एवं निर्देश्य द वस्तुओं का एक साथ दैर्घ्य प्रकट करना अभीष्ट होता हैं। जैसे–अनुगंगं वारा —अर्थात् वाराणसी की दीर्घता गंगा की दीर्घता के समान है। इस व्याख्य अनुसार अनुमालिनी तीरम् का अर्थ भी मालिनी तीर की दीर्घता के स कण्वाश्रम दीर्घ था—यही मानना पड़ता है।'

शाकुन्तल के आधार पर कण्वाश्रम और वहाँ के गुरुकुल की सभी प्रवृत्ति के क्षेत्रफलों के आँकड़े एकत्र कर श्रीनिधिजी ने अनुमान लगाया है कि कण श्रम का विस्तार लगभग १००६९·५५ एकड़ या १५·७५ वर्गमील र होगा। यानी दूसरे शब्दो में उसकी लम्बाई-चौड़ाई ५½ × ३¼ मील र होगी।'

महाभारत[1] एवं शतपथ[2] ब्राह्मण से प्रमाणित है कि कण्वाश्रम हस्तिना के सम्राटों के कुलगुरु का आश्रम था। आश्रम के संरक्षण, संवर्द्धन का प्र भार हस्तिनापुर के राजाओं पर था। दुष्यन्त के पुत्र भरत ने पृथिवी को जी कर ८७ अश्वमेध यज्ञ यमुना तट पर किये थे। उन यज्ञों के आचार्य उन कुल-पुरोहित कण्व थे, जिन्हें भरत ने सहस्रपद्म-स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणा में दी थीं

गढ़वाल किम्पुरुषवर्ष के मूल में स्थित कण्वाश्रम बिजनौर से १९ मी और हस्तिनापुर से लगभग ५२ मील पर है। प्राचीन काल में यहाँ जि किन्नर जाति के लोगों का निवास था, वही किन्नरगण अब भी बसते है दुष्यन्त एक शक्तिशाली सम्राट् था। कण्वाश्रम उसकी भुजाओं से रक्षित थ फिर भी शाकुन्तल से ज्ञात होता है, कि उस समय भी विदेशी शक्तियों क आतंक यहाँ पर बना हुआ था। उन्हें असुर कहा जाता था और उनका सैन्य

---

१. यस्मिन् सहस्रपद्मानां कण्वाय भरतो ददौ। महा० ७४।१३४

२. तदेतद्गाथयाभिगीतमष्टासप्ततिम्भरतो दौष्यन्तिर्यमुनामनु।
परः सहस्राणीन्द्रायाश्वमेध्यान्याहरद्विजित्य पृथिवीं सर्वाम्।
—शतपथ ब्राह्मण ५।४।२

देवताओं और मनुष्यों से कहीं अधिक संगठित और व्यवस्थित जान है। उन असुर-गणों में कालनेमि का वंशज दुर्जय नाम का दानव बहुत था[1], कण्वाश्रम भी उन असुरों से संत्रस्त जान पड़ता है। वे अवश्य ही ों के यज्ञ-याग, अनुष्ठान के बाधक रहे होंगे।[2] ऐसा अनुमान होता है कुन्तला-पुत्र भरत ने उन असुरों को पराजित किया था और उनको परा- कराने की किसी-न-किसी योजना या सलाह में कण्वऋषि का हाथ रहा है; तभी तो उन्होंने भरत के अश्वमेध यज्ञों के पुरोहित बनकर बद्म-स्वर्णमुद्राओं की दक्षिणा प्राप्त की थी।

ट और मारीचाश्रम

कण्वाश्रम के बाद शाकुन्तल में हेमकूट या मारीचाश्रम—इन दो पार्वत्य ों का नाम आता है। हेमकूट की भी पहचान अभी तक ठीक-ठीक नहीं की । हेमकूट को कैलास में या उसके पास बताया जाता है। इस स्थान की न भारतीय प्राचीन भूगोल के अध्ययन द्वारा की जा सकती है।

विष्णुपुराण वर्तमान एशिया महाद्वीप को भारतवर्ष, किंपुरुषवर्ष और र्ष—इन तीन महादेशों में विभक्त करता है।[3] इन तीनों देशों की सीमा नर्धारण करते हुए पद्मपुराण कहता है कि 'भारतवर्ष का विस्तार दक्षिण ोदधि से हिमालय तक, किंपुरुषवर्ष का हिमालय से इलावृत तक तथा र्ष का इलावृत से निषध तक है।'[4] पद्मपुराण की यह सीमा आधुनिक रु से इस प्रकार मिलायी जा सकती है—कन्याकुमारी से हिमालय की

---

१. अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः। —शा० सातवाँ अङ्क

२. रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। —शाकुन्तल, द्वितीय अङ्क

३. भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम्,
हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज।

४. दक्षिणे भारतं वर्षमुत्तरे लवणोदधेः,
कूलादेव महाभाग तस्य सीमा हिमालयः।
ततः किंपुरुषं वर्षं हेमकूटादधः स्थितम्,
हरिवर्षं ततो ज्ञेयं निषधोऽवधिरुच्यते।

उपत्यका तक भारतवर्ष; हिमालय की उपत्यका—से लेकर समस्त हिमालय तक किंपुरुष वर्ष तथा हिमालय की तलहटी से निषध तक हार

जॉन आर्थर द्वारा निर्मित 'आक्सफोर्ड स्कूल एटलस' के अनुसार दो श्रेणियों में विभक्त है। पहली श्रेणी की औसत ऊँचाई १२००० फु दूसरी की ६००० फुट है। दोनों के मध्य एक मैदान है जो दोनों श्रेणि एक दूसरे से विभक्त करता है। भूगोलवेत्ता लोग इन दोनों श्रेणि हिमालय कहते हैं। महाभारत से प्रतीत होता है कि ये दोनों श्रेणि युग में हिमालय और हिमकूट के नाम से पुकारी जाती रही होंगी बारहों मास हिम से ढका रहता था उसे हिमालय कहा जाता था और कुछ ही शिखरों पर हिमपात होता था और जिन पर सूर्य-किरणें उगलती-सी नजर आती थीं, उसे हिमकूट कहा जाता था। सूर्य की कि सुनहला रंग दिखायी पड़ने के कारण हिमकूट को हेमकूट कहा जाने लगा

कुमारसंभव और शाकुन्तल में कालिदास ने हिमालय की इन दोन श्रेणियों का बड़ा उदात्त वर्णन किया है। कुमारसंभव में कवि ने 'पूर्वापरौ निधीऽवगाह्य' कहकर हिमालय की प्रथम श्रेणी का और अभिज्ञान शा में 'पूर्वापरः समुद्रावगाढ़ः' कहकर द्वितीय श्रेणी का जो वर्णन किया है, हिमालय की इन दोनों पर्वत-श्रेणियों के प्रति अमित श्रद्धा, सम्मानभाव घनिष्ठ साम्य लक्षित होता है।

'मालिनी के वनों में' के लेखक श्रीनिधि ने अनेक अन्तःबाह्य साक्ष्य प्रत्यक्ष दर्शन-अनुभव के आधार पर गढ़वाल में स्थित मावगढ़ को माना है। उन्होंने हेमकूट सम्बन्धी समस्त पौराणिक, ऐतिहासिक वर्ण सूक्ष्म समीक्षा करते हुए यह मत स्थिर किया है। शाकुन्तल के सातवें अ वर्णित मारीचि-आश्रम के वर्णन को साक्षात् मावगढ़ की स्थिति से मिल लेखक ने अपनी गवेषणात्मक बुद्धि का परिचय दिया है।

---

१. इदं तु भारतंवर्षं ततो हैमवतं परम्
हेमकूटात्परं चैव हरिवर्षं प्रचक्षते। —भीष्मपर्व, अ० ६।४

२. कनकरस निःस्यन्दो। —शाकुन्तल ७

्पालय की इन दोनों पर्वत-श्रेणियों के विस्तार को कालिदास ने काव्या-
भाषा में 'पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य' लिखकर अपने विशद भौगोलिक
ा परिचय दिया है। ये दोनों पर्वत-श्रेणियाँ समानान्तर रेखा बनी हुई
समुद्र और पश्चिमी समुद्र तक पहुँचती हैं। हवाई जहाज में चढ़कर
ास के इस कथन की कि 'दोनों पर्वत श्रेणियाँ पूर्वो समुद्र और पश्चिमो
ें स्नान करती हुई-सी जान पड़ती हैं'—सत्यता आँकी जा सकती है।
य की ये दोनों पर्वत-श्रेणियाँ नामकिउ, पतकोई और आराकान नामों से
बंगाल सागर तक पहुँचती हैं और पश्चिम में हिन्दूकुश, सफेदकोह, मुले-
ोर किरठर नामों से अरबसागर तक पहुँचती हैं। इन दोनों पर्वत-
ं को पूर्व और पश्चिम के समुद्रों में स्नान करने की कालिदास ने जो
की है वह सार्थक और यथार्थ है।

भिज्ञान शाकुन्तल के सातवें अंक में मातलि रथ को आकाश में हेमकूट के
उड़ाते हुए दुष्यन्त से उसका परिचय देता है—'आयुष्मन्' एष खलु हेम-
ाम किम्पुरुषपर्वतः—परंतपस्विनां क्षेत्रम्।' भारत के प्राचीन भूगोल में
ा गढ़वाल किम्पुरुषवर्ष के अन्तर्गत था। किम्पुरुषवर्ष में हेमकूट पर्वत
सिद्धियों का केन्द्र और ऋषि मारीचि का जहाँ पर आश्रम था। कतिपय
और आलोचकों के मत से हेमकूट कैलास माना जाता है, किन्तु कालि-
वयं मातलि के मुख से कह रहे हैं कि 'क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ
ति'। अर्थात् आप क्षणभर में अब अपने राज्य की सीमा में पहुँच जायेंगे।
च-आश्रम भारतवर्ष की सीमा से बाहर किम्पुरुषवर्ष में रहा और कण्वा-
ारतवर्ष में था। हेमकूट (मावगढ़) से कण्वाश्रम (चौकी घाटा) की
र्फ ६ मील की होने के कारण मातलि का यह कथन तथ्यपूर्ण है कि
ाप क्षणभर में अपने राज्य की सीमा को पहुँच जायेंगे।'

ालिदास ने हेमकूट का जो वर्णन शाकुन्तल में किया है, उससे भी यह
त होता है कि हेमकूट तिब्बत या कैलास में न होकर वर्तमान गढ़वाल
रहा है। यदि मारीचि का आश्रम कैलास में होता तो उत्तर प्रदेश के
ु, जीव-जन्तु, जलवायु का भी वैसा ही वर्णन होता। किन्तु कालिदास
ीचि-आश्रम में अशोक, मंदार वृक्षों और विषसर्प, केसरी आदि ऐसे

जन्तुओं का वर्णन किया है; जो अब भी गढ़वाल में पाये जाते हैं। नि
कैलाश में उनकी स्थिति ही असम्भव है। रघुवंश में भी 'गुहाशयानां
परिवत्यावलोकितम्' लिखकर कालिदास ने हिमालय की द्वितीय पर्वत
गुफाओं में रहनेवाले सिंहों का वर्णन किया है न कि हिमालय की पहल
शृङ्खला का। क्योंकि रघु को ये सिंह-गुफाएँ कम्बोज से कुछ आगे व
वहीं मिली थीं जहाँ सिन्धुघाटी में हिमालय की द्वितीय शृङ्ख
स्थिति है।

वनस्पति शास्त्र के विशेषज्ञों के मत से तीन साढ़े तीन हजार
ऊँचाई तक अशोक और मन्दार के वृक्षों की उत्पत्ति सम्भव होती है,
अधिक नहीं। शाकुन्तल से स्पष्ट विदित होता है कि मारीचि-आश्रम की
सियाँ दो वस्त्र और तपस्वी एक वस्त्र धारण करते थे।[1] जलधारा
नित्य स्नान कर शीतल रत्नशिलाओं[3] में बैठकर ध्यान करते थे। अशो
की छाँह में बैठकर सुस्ताया जाता था पक्षीगण ध्यानस्थ ऋषियों के जट
में अपने घोसले बनाते थे। रमणीय मयूर[6] टहला करते थे। इन प्रम
आधार पर यह सिद्ध होता है कि २२०२८ फुट ऊँचा हिममंडित कैला
उसके आस-पास हेमकूट नहीं हो सकता है। कालिदास का हेमकूट गढ़व
मावगढ़ ही है, जिसे महाभारतकार महाभगढ़ नाम से स्मरण करते हैं।

शाकुन्तल के सातवें अंक के अन्त में कालिदास ने मारीचि ऋषि को
गोत्रीय[7] कहकर उनका परिचय दिया है। हेमकूट स्थित मारीचि ऋषि व
संहिता के निर्माता काश्यप मारीचि ही थे। चरक संहिता एवं महाभा

---

१. वसने परिधूसरे वसाना।
२. तोये काञ्चन पद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।
३. ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो।
४. अस्यामशोकच्छायायां तावदास्तामायुष्मान्।
५. असंख्यापि शकुन्तनीडनिचितम् बिभ्रज्जटा मंडलम्।
६. इमस्स मोरस्स रमणीअदं पेक्खन्ति मणिदोंस।
७. अपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य।
तथा तातकाश्यपस्य आश्रमवृक्षाः।

क्ष्यों से प्रमाणित होता है कि काश्यप मारीचि दौष्यन्ति भरत के समकालीन । काश्यप मारीचि आयुर्वेद के प्रवर्तक थे। उनके ग्रंथ काश्यप संहिता में तहारिणी स्त्रियों से बच्चों की रक्षा के लिए जिस 'रक्षागरण्डक'[1] का उल्लेख तथा बालक के जातकर्म संस्कार के अवसर पर जिस अपराजिता[2] औषधि के योग का उल्लेख है, उसका प्रयोग कालिदास ने शकुन्तला के पुत्र भरत को धवा कर अपनी आयुर्वेदिक योग्यता और मारीचि-आश्रम की सार्थकता सिद्ध है।

ष्कर्ष

रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत-विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र के वर्णन-त्रों से अभिज्ञान-शाकुन्तल के वर्णन-चित्रों की तुलना करने से ऐसा प्रतीत ता है कि कालिदास ने शाकुन्तल के स्थानों का जितनी आत्मीयता और कटता से वर्णन किया है उतना अन्य काव्यों, नाटकों के स्थानों का नहीं। घदूत के मेघ को सीधा रास्ता छुड़ाकर कालिदास उसे उज्जयिनी अवश्य ले ाता है, किन्तु उज्जयिनी, विदिशा, दशपुर, नीचगिरि आदि मालव प्रदेश के थानों के वर्णन में जननी-जन्मभूमि के वर्णन की-सी न तो आस्था है और न वित्रता तथा सूक्ष्मता। अभिज्ञान शाकुन्तल में कवि प्रत्येक स्थल का विशद और ार्थक भौगोलिक वर्णन करते हुए उस पर श्रद्धा के भाव प्रकट करता है। उस थान का वर्णन करते हुए वह भाव-विभोर हो जाता है। हिमालय की दोनों र्वतश्रृङ्खलाओं के वर्णन में न केवल भौगोलिक ज्ञान की सार्थकता है, बल्कि समें कवि की आस्था और आत्मीयता भी दृष्टिगोचर होती है। कण्वाश्रम और ारीचाश्रम के एक बालू के कण से लेकर वहाँ की समस्त वनविभूति और ामाजिक स्थिति का वर्णन वह आँखों देखा-सा करता है। इस वर्णन में कवि ा श्रृंगारी भाव सात्त्विकता और पवित्रता से अभिभूत हो उठा है। उज्जैन के हाकाल शिव पर कवि की आस्था है, इसलिए कि शिव उसके इष्टदेव हैं, किन्तु ज्जैन, विदिशा, दशपुर, रामगिरि, मालव क्षेत्र तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों के

१. अहो रक्षा गरण्डकः अस्य मणिबन्धे न दृश्यते।

२. एष अपराजिता नाम ओषधिः अस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता।

वर्णन में उसका कलापक्ष अधिक सबल है, हृदय पक्ष नहीं। शिप्रा और मालिनी नदी के वर्णनों का अधिक तुलनात्मक अध्ययन करने से मालिनी नदी का वर्णन अधिक श्रद्धापूर्ण और आत्मीयता से भरा हुआ दृष्टिगत होता है। हिमालय के वर्णन में कवि की जितनी आस्था है उतनी ही उसके संबंध में परिचयचारुता है। वह मारीचाश्रम और कण्वाश्रम को शान्तिप्रद स्वर्ग से भी श्रेष्ठ स्थान बतला कर 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' इस कथन की पुष्टि करता है।

कण्वाश्रम और मारीचाश्रम का विवेचन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कालिदास गढ़वाली थे। अभिज्ञान शाकुन्तल की रचना उन्होंने अपनी स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि की पवित्रता और उच्चता व्यक्त करने के लिए तथा अपनी जननी-जन्मभूमि की स्मृति को विदिशा, उज्जयिनी के साथ साथ अमर बनाये रखने के लिए की है। कालिदास की शकुन्तला इसलिए कमनीय बनी, इसलिए विश्वविख्यात बनी कि उसमें कवि की पुंजीभूत आस्था और श्रद्धा के भाव-स्रोत सहस्रधारा की भाँति प्रवाहित हुए हैं।



ध्याय : ३ | कालिदास पर परिस्थितियों का प्रभाव

ालिदास-पूर्व राजनीतिक परिस्थिति

पाणिनि की अष्टाध्यायी, बौद्ध और पौराणिक साहित्य से विदित है कि सा पूर्व कई सौ वर्ष से भारत के अनेक प्रदेशों में गणसत्तात्मक शासन-पद्धति ायम थी। गण का अर्थ एक ऐसी विशिष्ट राज्य व्यवस्था है, जो नृपतंत्र से र्वथा भिन्न प्रजातन्त्रात्मक होती है। पाणिनि-काल और बुद्धकाल में कहीं पतंत्रात्मक शासन था और कहीं प्रजातन्त्रात्मक। मध्यदेश के एक व्यापारी ने क्षिण के राजा से अपने राज्य का परिचय देते हुए बताया था कि महाराज, हम व्यापारियों में से बहुतेरे गणतंत्र राज्यों के हैं और कुछ नृपतंत्र राज्यों के निवासी हैं।'[1] जैन ग्रन्थ आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जैन साधु ऐसे देश में न जाएँ जहाँ राजा न हो, या जहाँ का राजा युवराज हो या जहाँ द्वैराज्य (आपस में लड़ने वाले दो राजाओं का राज) हो या जहाँ गणराज्य हो।[2]

इससे यह जाना जाता है कि प्राचीनकाल में गण का एक निश्चित और वैधानिक अर्थ था। उससे एक ऐसे राज्य का बोध होता था, जो राज्य-शासन का अधिकार किसी एक राजा के हाथ में न होकर गणसमूह अथवा अनेक 'व्यक्तियों के हाथ में होता था। ऐसे गणराज्यों से महामति पाणिनि पूर्ण परिचित थे। इसलिए उन्होंने गणसत्ता के अधीन प्रदेशों को एकवचन न कहकर माद्राः, पाञ्चालाः, आवन्तिकाः—बहुवचन में कहा है। ठीक इसी अर्थ में उस समय 'संघ' शब्द का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल की प्राप्त मुद्राओं से जाना

---

१. देव, केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीनाः

—अवदानशतक २, पृ० १०३

२. अरायणि वा गणरायणि वा जुवरायणि: वा दो रज्जणि वा बेरज्जणि वा विरुद्धरज्जणि वा।—आचारांगसूत्र २.३.१०१

जाता है कि लिच्छवयः, यौधेयाः, मालवाः, आर्जुनायनाः किसी एक राजा बोधक न होकर गण के बोधक थे। ऐसी मुद्राएँ किसी जन या ज्ञाति द्वारा नहीं बल्कि लोकतंत्र-व्यवस्था द्वारा जारी की गई थीं। यह कहना अनुचित न होगा कि प्राचीन भारत में पुरातन ग्रीस की राज्यशासन-व्यवस्था 'अरिस्टोक्रेटिक रिपब्लिक' की तरह थी। बौद्ध साहित्य, महाभारत और अलेक्जेण्डर के इतिहास से भी यह बात सिद्ध है। गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्यों के राजा नहीं थे। अनेक राजाओं द्वारा संचालित होने वाली शाक्यों की गणसत्ता के वह एक संचालक मात्र थे। अलेक्जेण्डर का सामना करने वाली मल्ल-ब्रह्मनोई (ब्राह्मण गणसंघ), यौधेय (शालोपजीवी), क्षुद्रक, रट्टिअरट्टि आदि सत्ताएँ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यूनानी इतिहासकारों ने प्राचीन भारत के नृपतंत्र और प्रजातंत्र—दोनों को देखकर राजनैतिक विवेचन और विश्लेषण किया है। सिकन्दरकालीन राजा पुरु के संबन्ध में यूनानी इतिहासकारों का कहना है कि 'जब पुरु ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली तो सिकन्दर ने विजित राज्य उसे वापस कर दिया। उस प्रदेश मे प्रजातन्त्रात्मक शासनव्यवस्था थी।'[१] यूनानी लेखकों ने बड़ी विशदता से बताया है कि न्यासा के नगर राज्य में उच्चवर्गतन्त्र प्रचलित था।[२] सबरक नामक तेजस्वी भारतीय ज्ञाति में नृपतन्त्र नहीं, प्रजातन्त्र था।[3] व्यास नदी के तट पर एक शक्तिशाली उच्चवर्ग का शासन था। सिन्धु नदी की घाटी पर अनेक प्रजातन्त्रीय राज्य थे। मुषिक राज्य पर एकतन्त्रराज्य और पाटल में दो भिन्न कुलोंका राज्य था, जो लोकसमिति की सलाह से शासन करते थे।[४]

मैकक्रिडल, अलेक्जेण्डर्स इनवेजन के लेखक का यह कहना भ्रममूलक है कि 'यूनानी इतिहासकारों ने यूनान की शासन-व्यवस्था को भारत की शासन-व्यवस्था से मिलने का षड्यंत्र किया है। यहाँ ऐसी कोई सत्ता नहीं रही, जिसे

१. मैकक्रिडल, अलेक्जेण्डर्स इन वेजन, पृष्ठ ३०८-९
२. मैकक्रिडल, पृष्ठ ८१
३. वही, पृष्ठ २५२
४. वही, पृष्ठ १२१

गणतन्त्रात्मक कह सकें। लेखक का मत है कि यूनानी लेखकों ने जिन्हें प्रजातन्त्रात्मक राज्य लिखा है वे वस्तुत: ग्राम-संस्थाएँ थीं।[1] ऐसी सत्ताओं को लोकतन्त्र कहना उचित नहीं है, क्योंकि वे सत्ताएँ ज्ञाति या जन की पंचायतें मात्र थीं। शासन का समस्त अधिकार आम जनता के हाथ में नहीं, अपितु एक छोटे से उच्चवर्ग के लोगों के हाथ में रहता था। यौधेयों का शासनसूत्र ५००० व्यक्तियों द्वारा संचालित होता था, जिनमें से प्रत्येक को एक हाथी राज्य को अनिवार्यत: देना पड़ता था।[2] इससे स्पष्ट है कि इस राज्य के शासक उच्चवर्ग के ही सदस्य होते थे, जिनको एक हाथी दे सकने की हैसियत होती थी। जन-साधारण का शासन में कोई हाथ नहीं था। यही स्थिति शाक्यों और कोलियों के राज्य की थी। सम्पूर्ण जनता से सम्बन्ध रखने वाले सन्धिविग्रहिक-निर्णय मुट्ठीभर शाक्य और कोलिय सरदारों के हाथ में था। साधारण किसान और मजदूर वर्ग को उनका निर्णय मजबूर होकर मानना पड़ता था।'

लेखक का यह मत लोकतन्त्र के प्राचीन और वर्तमान अर्थ की विभिन्नता के कारण ही भ्रममूलक हुआ जान पड़ता है। यह सही है कि इस समय प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र का जो अर्थ किया जाता है वह अर्थ प्राचीन भारत के यौधेय, शाक्य, मालव और लिच्छवि गणसंघों का नहीं था। यद्यपि प्राचीन भारत गणतन्त्र शासनों की बागडोर आजकल के भारत गणतन्त्र के समान सामान्य जनता के हाथों में नहीं थी, किन्तु प्राचीन राजशास्त्रीय गणतन्त्र की परिभाषा के अनुसार मालव, यौधेय, लिच्छवि गणराज्यों को गणतन्त्रात्मक मानने से इन्कार भी नहीं किया जा सकता है। भारतीय राजनीतिशास्त्र के अनुसार गणतन्त्र या प्रजातन्त्र राज्य उसे कहा जाता है जिसमें राजतन्त्र की भाँति सर्वोच्च शासन अधिकार एक व्यक्ति के हाथ में न होकर एक गण या परिषद के हाथ में होते हैं। गण के सदस्यों की संख्या कम हो या अधिक। इस तरह मैकक्रिंडल के लेखक जिन्हें सामंततन्त्र कहते हैं, उच्चवर्ग जनतन्त्र कहते हैं, वे सभी लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

---

१. मैकक्रिंडल, पृष्ठ ११५

२. मैकक्रिंडल इनवेजन ऑफ अलेक्जेण्डर दि ग्रेट, पृष्ठ १८१

गणतन्त्र प्रणाली का विकास-क्रम

वैदिककाल में यहाँ नृपतन्त्र ही था, वह इसलिए कि नया-नया राज्य-निर्माण करना पड़ा था, नये-नये राज्यों को पदाक्रान्त कर उनमें स्वायत्त कायम करना था। उस समय एकतन्त्र की ही आवश्यकता थी। राजतन्त्र सशक्त और सुदृढ़ हो जाने के बाद गणतंत्र शासन-पद्धति का विकास भारत में आरंभ हो जाता है। पुराणों की बुद्ध पूर्व राजवंशावली से प्रकट है कि मद्र, कुरु, पांचाल, विदेह, शिवि आदि गणतन्त्र पहले नृपतन्त्र ही थे। ऋग्वेद के अंतिम भाग से हमें गणतन्त्र के विकास-बीज के दर्शन होते हैं। इस वेद के अन्तिम सूक्त में प्रार्थना की गयी है कि 'समिति की मंत्रणा एकमुखी हो, सदस्यों के मन परस्पर अनुकूल हों और निर्णय सर्वसम्मत हों।[1] ऋग्वेद में एक स्थान पर राजाओं के समिति में एकत्र होने का तथा दूसरे स्थान में सर्वसम्मति से स्वीकृत राजा बनाने का वर्णन है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि 'प्राच्यों के राजा सम्राट् कहे जाते थे, सात्वतों के राजा भोज तथा नीच्यों और अपाच्यों के राजा स्वराट् कहे जाते थे। उत्तर कुरु तथा उत्तर मद्र में वैराज्य व्यवस्था थी और वहाँ के लोग विराट् शब्द से पुकारे जाते थे।[3] उत्तर मद्र में वैराज्य गणतन्त्र के विराट् राजा नहीं नागरिक कहे जाते थे। विराट् पद पर नागरिकों का अभिषेक होता था। ब्राह्मणकालीन उत्तर कुरु और उत्तर मद्र की गणतन्त्र व्यवस्था ईसवी चार सदी तक वर्तमान रही है।

प्राचीन भारत के ये छोटे-मोटे गणतंत्र राज्य सदा एक दूसरे से तीन-तेरह का सम्बन्ध रखते थे। आपसी मनमुटाव ही इनके विनाश का कारण बना। कुछ को कुषाणों ने कुचल दिया और कुछ को दुष्ट विक्रान्तयवनों ने विनष्ट कर दिया।

---

१. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। ऋग्वेद १०.९७.६

२. यस्य वै राजानो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति न स यस्मै न। श. प. ब्रा. ९.३.२.५

ये के च प्राच्यानां साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते····ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरवः उत्तरमद्रा इति वैराज्यैव तेऽभिषिच्यन्ते विराडित्येतानभिषिक्तानाचक्षते। ऐ. ब्रा. ७.३.१४

आपसी द्वेष के कारण मौर्य साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हुआ। अशोक के अवसान के बाद धार्मिक विद्रोह और विद्वेष ने सिर उठाया। मौर्य सेना में भी फूट पड़ गई। परिणाम यह हुआ कि बृहद्रथ मौर्य का निपात हुआ और शुंगवंशीय सेनापति पुष्यमित्र मगध का सम्राट् बन बैठा।

मौर्य-सत्ता के स्थान पर शुंग-सत्ता स्थापित हुई। बौद्धधर्म का उन्मूलन कर ब्राह्मणधर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने में शुंगशासन विख्यात हुआ। अश्वमेध यज्ञ की टूटी हुई परम्परा को फिर से जोड़ने के लिए सेनापति पुष्यमित्र ने मगध में दो अश्वमेध यज्ञ किए, जिनके आचार्य भाष्यकार पतंजलि थे। विद्वानों का अनुमान है कि अश्वमेध की पूर्णाहुति का समय संभवतः ईसवी सन् पूर्व १७६-१७७ रहा होगा।

कालिदास कालीन परिस्थिति

शुंगराजवंश को भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण बताया जाता है। कुछ लोग इन्हें ईरानी कहते हैं, किन्तु पुष्यमित्र निःसन्देह आर्य ब्राह्मण था। शुंगवंशीय भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मणों का महत्त्व ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उल्लिखित मिलता है। ये मौर्यवंशी राजाओं के राजपुरोहित रहे हैं। शुंगशासन का उत्तर भारत के गणराज्यों से मैत्री सम्बन्ध रहा है। विदिशा (भेलसा) में राजधानी बना लेने पर भी 'गणशत परिवृत्ते' का उल्लेख मिलता है, जिससे जान पड़ता है कि शुंगशासन का राजनैतिक संबंध सौ गणाराज्यों से रहा है। मालविकाग्निमित्र नाटक से विदित है कि अग्निमित्र ने विदर्भ पर आक्रमण करके उसे जीत लिया और वहाँ 'द्वैराज' की स्थापना की।

मध्य प्रदेश के मान्धाता से लेकर वेन गंगा और इरावती तक का भूभाग विदर्भ था। विदर्भ राज्य के पूर्व खारवेल राज्य और पश्चिम में शातकर्णी राज्य था। उत्तर विदर्भ में गणसंघ थे, उन्हें खारवेलने दुर्बल बना रखा था। कालिदास-काल में दक्षिणापथ के पूर्व भाग का राजा खारवेल उत्तर भारत पर आँख गड़ाये हुए था, वह आक्रमण पर आक्रमण कर रहा था। इधर पंजाब की ओर से यवन शकों के हमले चल रहे थे। हिन्दूधर्म मानने वाले आचार-प्रधान शासन भारशिव, वाकाटक विन्ध्य के पीछे जमे हुए थे। उस समय एक ओर शुंग,

काण्व, नाग, वाकाटक ब्राह्मणधर्म को जड़ मजबूत बनाने में तुले हुए थे और दूसरी ओर यवन और शक बौद्धधर्म ग्रहण कर बौद्धधर्म को बढ़ाने में निरत थे। यह बात इसी काल के विदिशा स्थित ग्रीक हेलिम्पो डोरस के गरुड़ स्तम्भ से प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है। कालिदास के काव्यों और नाटकों में उसके समय की इस राजनैतिक स्थिति की स्पष्ट झलक मिलती है। यह समय वैदिक यज्ञ, याग, देवता, मंदिर, धर्म आचार की प्रतिष्ठा का प्रेरक बन गया था। शुंग, काण्व, नाग, वाकाटक वंश के राजा वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए प्राणप्रण से जुटे हुए थे। कालिदास ने अपने साहित्य में इस युग की संस्कृति के निर्माण में पूरा योगदान दिया। उसे अपने इस सांस्कृतिक प्रतिष्ठा और प्रचार के लिए पूरा अवसर मिला था। युग प्रतिनिधि कवि कालिदास ने रामायण, महाभारत और पुराणों के माध्यम से रघुवंश, शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मेघदूत की रचना करके सांस्कृतिक प्रतिष्ठा को सार्वजनोन और प्रभावपूर्ण बनाया। इसी सांस्कृतिक प्रकाश में कवि के नायक राजा, राज्य और समाज विकसित हुए हैं। ऐसा जान पड़ता हैं कि शुंगवंश का ब्राह्मणधर्मी शासन कवि को अत्यधिक प्रभावित बनाये हुए था। कदाचित् इसीलिए वह मालविकाग्निमित्र नाटक की रचना का लोभ संवरण न कर सका। मालविकाग्निमित्र नाटक यह एक ही रचना कवि की व्यक्तिपरक रचना है, जो सोद्देश्य जान पड़ती है।

इतिहासकार इस समय को अन्धकार युग मानते हैं। इस युग का इतिवृत्त अभी तक अन्धकार में है, किन्तु फिर भी मालवगणों की जो मुद्राएँ और शिलालेख इस समय के मिलते हैं, उन पर 'मालवगणस्थितिवशात्,' 'मालवगणाम्नाते' शब्द अंकित होने से यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उस समय 'मालवगण' राज्य की स्थिति अवश्य रही है। अनेक इतिहासकार इसी समय मालवगण के गणमुख्य विक्रम की स्थिति स्वीकार करते हैं। आश्चर्य नहीं कि कालिदास विक्रम की यशस्विता से भी प्रभावित हुए हों। संभव है कि उन्होंने पुरूरवा के चरित्रप्रधान नाटक को विक्रम से प्रभावित होने के कारण उसका नाम विक्रमोर्वशीय रख दिया हो तथा राज्याभिषेक के वर्णन में अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में 'विक्रम महिमा' शब्द जोड़ दिया हो।

ालव कौन थे ?

मालव गणराज्य की स्थापना करने वाले मालव कौन थे ? यह एक ाचारणीय प्रश्न है। सिकन्दर के आक्रमण के समय मालव गणतंत्र एक अग्र-ण्य संघ था। उस काल में मालवगण चिनाब और राबी के मध्यप्रदेश में बसे । और क्षुद्रकगण उनके दक्षिण रहते थे।[1] बढ़ते हुए सिकन्दर को रोकने के लए मालवों और क्षुद्रकों ने संयुक्त योजना बनाई, किन्तु दोनों सेनाओं के मिलने । पूर्व सिकन्दर मालवों पर चढ़ गया। एक लाख मालवगण योद्धाओं ने सिकन्दर से लोहा लिया, मालवों के एक दुर्ग पर आक्रमण करते हुए सिकन्दर मरते-मरते बचा। अन्त में मालवों और क्षुद्रकों को सन्धि करनी पड़ी। इसके बाद से ही मालव और क्षुद्रगण का एक संयुक्त गणसंघ कायम हो गया। महा-भारत के कई स्थलों पर क्षुद्रक-मालवों का एक साथ वर्णन मिलता है। पाणिनि ने क्षुद्रक-मालव से बने हुए विशेष प्रकार के द्वन्द्व-समास की कल्पना की है। आगे चलकर क्षुद्रक-गण मालवगण में पूर्णतया समाविष्ट हो गया। केवल मालव-गण से ही क्षुद्रक-मालव सम्बोधित होने लगे।

ईसा पूर्व १००० वर्ष के आसपास मालव पंजाब से निकलकर राजस्थान के अजमेर, चित्तौड़ और टोंक में जाकर बस गये और फिर ६०० ई० पू० वहाँ से मध्यप्रान्त में जाकर बसे जो मालवभूमि या मालवप्रदेश कहलाता है। मालवगण की स्थिति शुंगकाल और गुप्तकाल तक बराबर बनी रहीं। इनकी जो ताम्रमुद्राएँ मिली हैं, उन पर 'मालवानांजयः' अंकित है। किसी राजा का नाम नहीं है। मालवगण अपने को इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय मानते हैं। इस दृष्टि से मालवगण मुख्य रूप से विक्रम इक्ष्वाकुवंशी सिद्ध होते हैं और कालिदास रघुवंश में 'क्व सूर्य प्रभवः वंशः क्वचाल्प विषयामतिः' 'इक्ष्वाकूणामन्वयं वक्ष्ये' लिखकर मालवगण के प्रति अपनी निष्ठा और आदर-भावना व्यक्त करते हैं।

मालवगण के पतन के संबंध में डा० काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि 'सिकन्दर की भाँति समुद्रगुप्त ने देश की स्वातन्त्र्य-भावना को कुचल डाला। उसने उन मालव, यौधेय आदि गणराज्यों का नाश किया। जिनके उत्संग में

१. मैकक्रिंडल इनवेज़न आफ़ अलैक्जेंडर, पृ० १३८

स्वतन्त्रता पल रही थी, विकसित और संवर्द्धित हो रही थी'। डाक्टर अल का कहना है कि नन्दसा गाँव के यूप पर के लेख से पता चलता है कि ती शताब्दी में ही मालव गणराज्य की सत्ता पैतृक परंपरागत होकर ऐसे कुल हाथ में जा रही थी, जो अपना उद्भव इक्ष्वाकु राजर्षियों से बताते थे।'

ऐसे राजनीतिक वातावरण में निर्मित कालिदास का साहित्य अपने पूर्व और समकालिक साहित्य से पूर्णतया प्रभावित है। कालिदास की कृतियों अपने युग की राजनीतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों की छाया स्पष्ट झलकती

कालिदास के साहित्य पर पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव

कालिदास की रचनाओं के आधार और प्रयोजन प्रकरण में बताया चुका है, कालिदास की रचनाओं पर वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत अ पुराणों ने प्रभाव डाला है। कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि, भास, सौमि कवियों के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करते हुए उनके पथ पर काव्य-रच करना स्वयं स्वीकार किया है। मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल नाटक रचना पर भास की नाट्यकला का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। इन नाटकों भास की नाट्य-शैली के अतिरिक्त उसके द्वारा प्रयुक्त छन्दों का भी अनुक मिलता है। यह बात दूसरी है कि कालिदास ने अपनी प्रतिभा से अपनी रचनाओं को मौलिकता और नवीनता प्रदान की है।

इनसे अधिक सर्वाधिक प्रभाव कामसूत्र का पड़ा है। कामसूत्र के रचयि वात्स्यायन मुनि का स्थिति-काल अधिकांश विद्वानों ने ईसवी तीसरी शती मा है। देशी-विदेशी सभी आलोचक इस बात को स्वीकार करते हैं कि कालिदा ने वात्स्यायन के कामसूत्र का गहरा अध्ययन किया था। कामसूत्र से अधिकां प्रभावित कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में होने का यह भी ए प्रबल प्रमाण है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के चौथे अंक का यह सर्वोत्कृष्ट श्लोक—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने—
भर्त्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

कामसूत्र के निम्नांकित सूत्रों का निखरा हुआ रूप है—

श्वश्रू-श्वसुर परिचर्याः तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता।
भोगेष्वनुत्सेकः परिजने दाक्षिण्यम्।
नायकापचारेषु किंचित्कलुषतानात्यर्थं निन्दन्।[१]

कालिदास ने रघुवंश में अग्निवर्ण की घोर कामुकता का वर्णन करते हुए ास 'संघायः[२] शब्द का प्रयोग किया है वही शब्द ज्यों-का-त्यों कामसूत्र[३] उल्लिखित है।

अज और इन्दुमती के विवाह का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है—

'आसीद्वरः कंटकितः प्रकोष्ठाः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी'

अज ने इन्दुमती का जब पाणिग्रहण किया तो अज के हाथ में रोमांच हो ाया और इन्दुमती की अँगुलियाँ पसीज उठीं।

ठीक ऐसे ही भावों की अभिव्यक्ति वात्स्यायन ने इसी प्रगङ्ग में इस सूत्र ारा की है—

कन्यास्तु प्रथमसमागमे स्विन्नांगुलिः नम्रमुखी च भवति।
पुरुषस्तु रोमांचितो भवति॥

कुछ अदल-बदलकर कालिदास ने कुमारसंभव में भी यह भाव व्यक्त किया है—

रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः, स्विन्नांगुलिः पुंगवकेतुरासीत्।

वात्स्यायन ने विरक्त होते हुए प्रेमी को पहचानने का तरीका बतलाते हुए लिखा है कि—

मित्रकृत्यमपदिश्य अन्यत्रशते।[४]

ठीक इसी का भाव ग्रहण कर कालिदास ने लिखा है—

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः, प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियायाः।[५]

---

१. कामसूत्र, पृष्ठ २३६
२. रघु० सर्ग, १९ श्लोक १६
३. कामसूत्र, पृष्ठ ३२७
४. का० सू०, पृ० ३२३
५. रघु० १९, ३१
४ का०

अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त और शकुन्तला जब एक दूसरे को देख परस्पर आकृष्ट और आसक्त हो जाते हैं, उस समय शकुन्तला दुष्यन्त के प्र जिन हावों-भावों, कटाक्षों का प्रयोग करती है, वे सब कामसूत्र के कन्या श्रम्भण प्रकरण के अनुकरण पर हैं। वात्स्यायन ने 'नागरकवृत्त' प्रकरण नागरकों के आचरण का विधान लिखा है। अभिज्ञानं शाकुन्तल में कालिद कामसूत्र के आधार पर ही दुष्यन्त के मुख से कहलाता है—

'नागरकवृत्त्या शान्तयैनाम्'

डाक्टर मिराशी का मत है कि 'कामसूत्र के एक स्थान पर वात्स्याय ने आन्ध्र शातकर्णी राजा का उल्लेख किया है, इसलिए इस ग्रन्थ के ईस तीसरी शती की रचना होने में सन्देह नहीं है।

कामसूत्र में आन्ध्र शातकर्णी का उल्लेख निम्नांकित है—

कर्त्तर्य्या कुन्तल: शातकर्णि: शातवाहनो महादेवी मलयवती जघान।[1]

स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि कुन्तल शातकर्ण पर खारवेल ने ई० स० पूर्व १७१ में आक्रमण किया था।[2]

यदि डा० जायसवाल का यह मत मान लिया जाता है तो वात्स्यायन की स्थिति ईसापूर्व प्रथम शती असंदिग्ध हो जाती है और डा० मिराशी का मत निरस्त हो जाता है।

सामान्यतया कालिदास और वात्स्यायन के भौगोलिक वर्णन, सामाजिक चित्रण, लोकमान्यताएँ, धार्मिक, साम्प्रदायिक विचार और वर्णन, कलाविला-सिता, वास्तुकला, चित्रकला, गोष्ठी, मनोविनोद आदि समस्त सामाजिक चित्रण में अपूर्व साम्य है।

कालिदास का 'बहुवल्लभा राजान:' उल्लेख वात्स्यायन के समृद्ध नागरिक का अनेक पत्नियों के अनुकरण पर है। वात्स्यायन रानियों, राजकुमारियों को नृत्य-संगीत की सविधि शिक्षा देने का विधान लिखता है। मालविकाग्निमित्र नाटक में कालिदास ने गणदास आचार्य द्वारा मालविका को कलादक्ष बनाकर

---

१. का० सू०, पृ० १४९

२. ज० वि० आर० रिसर्च नं० १११ पृ० ४४१-४२

ो परीक्षा अन्तःपुर के खुले रङ्गमञ्च पर कराता है। वात्स्यायन प्रेमिकाओं
ोमी की ओर आकृष्ट कराने के लिए भिक्षुणियों को माध्यम बनाने का परा-
देता है। मालविकाग्निमित्र में मालविका और अग्निमित्र को परस्पर
ष्ट कराने तथा उन्हें परिणीत कराने में भिक्षुणी परिव्राजिका माध्यम
ो है।

प्रेमी या पति के विरहकाल में प्रेमिका या पत्नी के रहन-सहन, आचार,
हार का जो विधान वात्स्यायन ने लिखा है, ठीक उसी के अनुसार कालि-
के यक्ष की विरहिणी प्रिया आचरण करती है। वात्स्यायन नागरक वृत्त में
रकों की मनोरंजन-गोष्ठी में जिस कथा-कहानी सुनने-सुनाने का विधान
लाताहै, उसी के अनुसार कालिदास ने मेघदूत में चौपालों पर ग्रामवृद्धों द्वारा
जाने वाली उदयन-कथा का उल्लेख किया है। भास और वात्स्यायन की
ति कालिदास ने भी उद्यान-यात्रा, वन-विहार, मदनोत्सव, सुवसंतक आदि
ष्ठियों, महोत्सवों की चर्चा की है।

कालिदास द्वारा वर्णित जिस वैभव, विलास, कलात्मक विलास, कला-वैभव
कुछ आलोचक गुप्तकालीन स्वर्णयुग का सिद्ध करते हैं, वही वैभव और
लास हमें भास के नाटकों और वात्स्यायन के कामसूत्र में ज्यों-का-त्यों
लता है।

वात्स्यायन और कालिदास के इस सामान्य तुलनात्मक विवेचन से सिद्ध
ता है कि वात्स्यायन और कालिदास ईसा पूर्व प्रथम शती में रहे हैं। वात्स्या-
कालिदास से पूर्ववर्ती हैं। उनका स्थिति-काल यदि १५० वर्ष ईसा पूर्व
ना जाए तो कालिदास को ५७ वर्ष ईसा पूर्व मानने में कोई अवरोध नहीं
पन्न होता है।

कालिदास पर अनुशीलनकर्त्ताओं में सर्वाधिक प्रशस्त अनुशीलन श्री भगवत-
रण उपाध्याय का है। उपाध्यायजी ने प्रत्येक अंग पर बहुमुखी दृष्टि रखते
अनुशीलन प्रस्तुत किया है। उन्होंने भास, सौमिल्ल, कवि-पुत्र अश्वघोष को
लिदास का पूर्ववर्ती कवि माना है। किन्तु भास और वात्स्यायन की स्थिति
ईसवी तीसरी शती मानते हैं। भास और वात्स्यायन के स्थितिकाल के सम्बन्ध
हम अपने विचार कालिदास के स्थितिकाल के विवेचन में व्यक्त कर चुके हैं।

उपाध्यायजी ने कालिदासयुगीन समाज के आचार, मनोरञ्जन, गान,
चित्रमूर्ति, मृण्मूर्ति, भवन-निर्माण, आर्थिक स्थिति और धार्मिक जीवन क
विशद वर्णन किया है, वही वात्स्यायन के कामसूत्र में भी मिलता है। उपा
जी वात्स्यायन को ईसवी तीसरी सदी का मानते हैं, जब कि हमारे
से वात्स्यायन कालिदास से पूर्व ईसा पूर्व प्रथम शती के ठहरते हैं। उपाध
जी ने कालिदासकालीन जिस समाज का विशद वर्णन किया है, उसका
पेषण करना हमें अभीष्ट नहीं है इसलिए हम कालिदासकालीन सामाजिक
करना ही उचित समझते हैं।

ध्याय : ४ | कालिदास की रचनाओं के आधार और प्रयोजन

कालिदास की रचनाओं में अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्नि-त्र, रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार लोकोत्तर ख्यातिप्राप्त प्रमुख चनाएँ हैं। इनमें मालविकाग्निमित्र और ऋतुसंहार को छोड़कर शेष सभी ाव्य और नाटक वैदिक और पौराणिक आख्यानों पर आधारित हैं।

१. अभिज्ञान शाकुन्तल

यह नाटक महाभारत के प्रथमपर्व के दुष्यन्त-शकुन्तला के आख्यान पर ाधारित है अवश्य, किन्तु महाभारत में दुष्यन्त का जो विद्रूप-चित्रण हुआ है, से कालिदास ने शाकुन्तल में उदात्त और कमनीय बनाने की हरचन्द कोशिश ी है। सात अंकों का यह नाटक लक्षण-ग्रन्थों में निर्धारित समस्त नाटकीय क्षणों से सम्पन्न महिमामय संस्कृत साहित्य की सर्वोत्तम निधि है।

थावस्तु

प्रथम अंक

हस्तिनापुर का पुरुवंशी राजा दुष्यन्त आखेट करता हुआ जब मालिनी नदी के तट पर स्थित कण्व ऋषि के आश्रम के निकट पहुँचकर रथ को छोड़ देता है और पैदल आश्रम के अन्दर प्रवेश करता है। कण्व ऋषि आश्रम में नहीं थे इसलिए अतिथि-सत्कार का कार्यभार उनकी पालिता कन्या शकुन्तला पर था। शकुन्तला का अनिन्द्य सौन्दर्य देखकर राजा दुष्यन्त विह्वल हो जाता है। नवयौवना तापसकन्या सुन्दरी शकुन्तला भी उसे देखकर उस पर आसक्त हो जाती है।

द्वितीय अंक

राजा दुष्यन्त की शिकारी प्रवृत्ति और प्रणय-व्यापार को देखकर उसका

विदूषक मित्र माढव्य चिन्तित और व्यथित होता है। राजा की ये
प्रवृत्तियाँ वह पसन्द नहीं करता है और हस्तिनापुर लौट जाना चाहता है

तृतीय अंक

प्रणय-वेदना से व्यथित शकुन्तला लताकुंज में पुष्प-शय्या पर पड़ी हुई
उसकी सखियाँ उस प्रणयताप को शीतल बनाने का उपचार करती हैं। काम
दुष्यन्त एकान्त में पड़ी हुई शकुन्तला के पास जाता है और वहीं उससे चुप
गान्धर्व विवाह कर लेता है। गान्धर्व विवाह एवं प्रथम मिलन की स्मृति में
शकुन्तला अपनी अँगूठी देकर कुछ काल बाद अपने दूत भेजकर उसे बुलवा
का आश्वासन देकर हस्तिनापुर चला जाता है और शकुन्तला उसके विरह
व्याकुल होकर उन्मत्त बन जाती है।

चौथा अंक

विरह-व्याकुल शकुन्तला सुध-बुध खोयी हुई बैठी है, इसी समय महाक्रो
ऋषि दुर्वासा आश्रम में पहुँचते हैं। शकुन्तला को अपने आतिथ्य से उदासी
निरपेक्ष्य देखकर ऋषि क्रुद्ध हो जाते हैं और अपने अपमान का बदला चुकाने
लिए वह उसे शाप देते हैं कि जिसके ध्यान में यह सुध-बुध खो बैठी है वह इ
भूल जाएगा। शकुन्तला की सखियाँ दुर्वासा का शाप सुनकर सहम जाती
किन्तु शकुन्तला को कुछ भी पता नहीं चलता है। भयभीत सखियाँ क्रुद्ध ऋ
से अनुनय-विनय करती हैं तो ऋषि शापोद्धार का उपाय बताते हैं कि अँगू
दिखा देने से उसका प्रेमी पहचान लेगा।

बाहर से आकर ऋषि कण्व को जब दुष्यन्त और शकुन्तला के गान्ध
विवाह का समाचार मिलता है तो अनायास सुपात्र वर मिल जाने से ऋ
प्रसन्न होते हैं। जब राजा की ओर से शकुन्तला को विदा कराने के लिए को
नहीं आता है तो ऋषि अपनी गर्भवती पालिता कन्या को आश्रम की ताप
गौतमी और ब्रह्मचारी ऋषि शार्ङ्गरव के साथ हस्तिनापुर भेज देते हैं। वि
होती हुई शकुन्तला अपनी प्रिय सखी अनसूया और प्रियंवदा से जब विदा लेत
है, आश्रम के मृग और शुक-सारिका से विदा माँगती है, और पिता कण्व व
भेंटती है, उस समय सम्पूर्ण आश्रम करुणा-कातर बन जाता है। सारा आश्र

-विह्वल होकर द्रवित हो जाता है। लता विटप भी शकुन्तला की जुदाई को सहन कर पत्तियाँ गिर-गिराकर अपनी करुणा प्रकट करते हैं। वनवासी, गी तपस्वी ऋषि कन्या को विदा करते हुए इतने द्रवित और व्यथित होते के उनके मुँह से बरबस निकल पड़ता है कि कन्या को विदा करते समय जब वन-वासियों की यह कातर-दशा है तो गृहस्थों को कन्या-वियोग की कथा तनी सताती होगी। आलोचकों ने कदाचित् ऐसे मार्मिक प्रसंगों के कारण इस थे अंक को नाटक का सर्वश्रेष्ठ स्थल माना है।

पाँचवाँ अंक

चौथे अंक की प्रसन्नता-मिश्रित करुणा पाँचवें अंक की अपमानजन्यवेदना-श्रित करुणा बन जाती है। शार्ङ्गरव और गौतमी के साथ जब शकुन्तला स्तनापुर पहुँचती है तो दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त उसे भूल जाते हैं। ह शकुन्तला को पहचान नहीं पाते हैं। धर्म-संकट में पड़ा हुआ राजा लोक-धर्म र वेद-धर्म की रक्षा के लिए गर्भवती शकुन्तला को किसी भी मूल्य में स्वीकार रने से साफ इनकार कर देता है और गौतमी तथा शार्ङ्गरव शकुन्तला को हीं छोड़ देते हैं—यह कहकर कि विवाहिता लड़की का घर पति का घर ोता है पिता का नहीं। असहाय शकुन्तला को पुरोहित सन्तानोत्पत्ति-काल तक लिए अपने घर में रखने के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु शकुन्तला इस कार रहने से इनकार कर क्रोधाभिभूत हो राजमहल से बाहर निकल जाती । इसी समय उसकी माँ मेनका अप्सरा अलक्ष्यगति से आकर उसे मारीचि ऋषि के आश्रम में जाकर पहुँचा देती है।

इस अंक के विष्कम्भक में राजा दुष्यन्त के राजपुरुष एक धीवर को बाँध-कर ले आते हैं। उस पर राजा की अँगूठी चुराने का अभियोग लगाया जाता है। वस्तुतः यह वही अँगूठी थी जिसे दुष्यन्त ने शकुन्तला को निशानी के रूप में दी थी। हस्तिनापुर जाती हुई शकुन्तला के हाथ से वह अँगूठी खिसककर रास्ते में एक सरोवर में गिर पड़ी थी, और एक मछली ने उसे निगल लिया था। धीवर उस मछली को जाल में फँसाकर घर लाया और जब उसने उसका पेट चीरा तो वह अँगूठी उसे मिली थी। सरोवर में अँगूठी गिर जाने से शकुन्तला भूले हुए दुष्यन्त को कोई प्रमाण नहीं दे सकी थी।

राजपुरुषों ने अँगूठी सहित धीवर को जब राजा के सामने पेश किया अँगूठी को देखते ही राजा को शकुन्तला की याद आ गयी।

छठा अंक

शकुन्तला की याद कर राजा विरह-कातर हो जाता है। बहुत पश्चात्ताप करता है। इसी समय देवासुर संग्राम में सहायता देने के लिए दुष्यन्त को इ का निमन्त्रण मिलता है। वह रथारूढ़ होकर स्वर्ग जाता है।

सातवाँ अंक

स्वर्ग से लौटते हुए दुष्यन्त हेमकूट पर्वत पर पहुँचते हैं। वहीं अपने पु सर्वदमन (भरत) को देखकर उनका वात्सल्य उमड़ पड़ता है। वहीं शकुन्तल से पुर्नमिलन होता है।

आधार : प्रयोजन

मूल आख्यान से तुलना

महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान को कालिदास ने अपने नाटक में कुछ पल्लवित किया है। महाभारत में शकुन्तला कण्वाश्रम में ही पुत्र पैदा करती है, किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त द्वारा ठुकरायी जाने के बाद मारीचि आश्रम में पुत्रोत्पत्ति बतायी गयी है।

महाभारत में दुष्यन्त जिस समय जिस स्थल पर शकुन्तला को दुत्कारता, ठुकराता है, उसी समय उसी स्थल पर वह उसे स्वीकार भी करता है। किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त अपनी राजसभा में शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है और मारीचि आश्रम में उसे स्वीकार करता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त द्वारा दिए गये अभिज्ञान (निशानी) और दुर्वासा द्वारा दिये गए शाप की चर्चा महाभारत में बिल्कुल नहीं है।

अभिज्ञान शाकुन्तल की रचना विशुद्ध, निश्छल प्रेम की पृष्ठभूमि पर की गई है। प्रेम का अँखुआ कैसे फूटता है, किस तरह बढ़ता है और फिर उसका चरम परिणाम क्या होता है—प्रेम विजयी होता है, वह सफलताओं का आगार होता है, किसी प्रकार के प्रत्यवाय प्रेम के परिणाम को विफल नहीं बना सकते—यही इस नाटक का उद्देश्य है, प्रयोजन है।

नाटक के नायक की भाँति नायिका शकुन्तला का चरित्र भी उत्तरोत्तर कसित और समृद्ध हुआ है। शकुन्तला के चरित्र का विकास बहुत ही स्वाविक ढंग से मानवी स्तर पर हुआ है। शान्त तपोवन में ऋषियों, ऋषिकाओं बीच पली हुई कन्या अन्दर-बाहर से स्फटिक की भाँति अम्लान है। नसूया, प्रियंवदा सखियों के साथ ही वह आश्रम के लता, विटपों शुकारिका, मृगछौनों से भाई-चारे का सम्बन्ध जोड़ती है। उन पर उसका वही हज स्नेह है जैसे मनुष्य का मनुष्य से होता है। कवि ने शकुन्तला को निसर्ग कन्या के रूप में प्रस्तुत कर मानवता का एक सुघर, सहज रूप प्रस्तुत किया है।

भोली बालिका शकुन्तला में अनजाने मुग्ध यौवन प्रवेश कर जाता है। उसके भोलेपन में मधुर भाव भर जाते हैं। वह तापस-कन्या सरल और तरल बन जाती है, उसके अम्लान रूपोद्यान के हृदय-कुसुम को वासना-वायु हल्के-हल्के स्पर्श करता है तो वह तरु-लताओं के सम्मिलन को भावविभोर होकर देखने लगती है, उसके दबे हुए भावों के जगाती तथा उकसाती हुई अनसूया परिहास में कहती है—शकुन्तला, वनतोषिणी को आम्रतरु से लिपटी हुई देखकर क्या तू भी वैसे ही अनुरूप वर की अभिलाषा रखती है? यह सुनते ही शकुन्तला के मुग्ध मधुर भाव जागरित हो उठते हैं, वह उलट कर जवाब देती है—'ऐसा तो तू ही सोचती है।'

इस नव-यौवना मुग्ध-तापसी का यौवन-सरोवर जब मधुर भावों की तरङ्गों से हौले-हौले आन्दोलित हो रहा था, उसी समय एक सुघर तरुण हंस बनकर उस मानसरोवर में प्रविष्ट हो गया तो तापसी का हृदय सामान्य नारी की भाँति आन्दोलित हो उठा। आश्रम के नियम-विधान के विरुद्ध तरुणी तापसी शकुन्तला युवक दुष्यन्त पर आसक्त हो गई। शकुन्तला की सीमातोड़ आसक्ति ने पुनीत ऋषि आश्रम को वासनाभिभूत बना दिया। शिष्टाचार, सदाचार, सामाजिक बन्धन, तपोवन-विधान सबको भूलकर शकुन्तला मदनोन्माद से इतनी विमुग्ध विमोहित बनी कि प्रेम के स्वर्गीय और पवित्र भावों को उसने कलुषित बना दिया। गान्धर्व विवाह कर, अंगुलीयक अभिज्ञान देकर दुष्यन्त यह कहकर चला जाता है कि हस्तिनापुर पहुँचकर तुम्हें बुलवा लेने के लिए

प्रेम को लेकर नाटक प्रारम्भ होता है, विभिन्न प्रकार की घटनाएँ घट हैं किन्तु सबकी परिणति एक ही बिन्दु पर होती है। नाटक की समा सफल प्रेम की वेदी पर होती है। हृदय की निश्छलता से किया गया प्रे कभी विफल नहीं होता है। यही बताने के लिए घटना-प्रधान नाटक अभिज्ञा शाकुन्तल की रचना कवि कालिदास ने की है। इस प्रमुख प्रयोजन को सफ बनाने के लिए नाटककार द्वारा संयोजित घटनाओं की सार्थकता, उनक वक्रगति, नाटककार की कवित्वशक्ति, पात्रों के उदात्त चरित्र, शैली एव भाषा तथा भावों की स्वाभाविकता सहायक बनी है।

नाटक की घटनाएँ दो प्रकार की हैं। एक प्रकार की अनुकूल भावधारा प्रवाहित करती हैं और दूसरे प्रकार की घटनाएँ प्रतिकूल धाराएँ प्रवाहित करती हैं। घटनाओं की ऋणात्मक-धनात्मक भाव---धाराएँ एक ऐसी शक्ति पैदा करती हैं, जिस पर सभी अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओं का एकीकरण होता है।

राजा दुष्यन्त के चरित्र को महाभारतकार ने जितना विद्रूप बनाया है उससे कहीं अधिक उदात्त कालिदास ने बनाया है। नाटक के प्रारम्भ में दुष्यन्त धृष्टकामी बनकर ऋषिकन्या से प्रणय-व्यापार प्रारम्भ कर देता है। नाटक के प्रारम्भ में दुष्यन्त को हम एक कामुक और छिछोरा व्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं समझते हैं, किन्तु आगे चलकर कालिदास ने उसके चरित्र को लोकोत्तर उदात्त बनाने अपनी प्रतिभा का अप्रतिम वैभव नाट्यकला के माध्यम से दुष्यन्त को प्रदान किया है। वह कामी राजा महान-प्रेमी, सरल पुत्रवत्सल, धर्मात्मा, कला-कोविद और कर्त्तव्यनिष्ठ प्रजापालक के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

दुष्यन्त के दोषों को गुणों में परिवर्तित कर उसके चरित्र को दिव्य बनाना कालिदास की प्रतिभा का चमत्कार है। परस्पर विरोधी घटनाओं को एक बिन्दु पर घटित कर देना उत्थान और पतन–इन दो ध्रुवों के बीच घात-प्रतिघात, अन्तर्द्वन्द्व की सजल सृष्टि कर लघु को महान् बना देना कालिदास की नाट्यकला की सबसे बड़ी खूबी है। अभिज्ञान शाकुन्तल को विश्व-विश्रुत बनाने का श्रेय दुष्यन्त के साधारण चरित्र को महान् से अति महान् बना देने की कला ही है।

आदमी भेजूँगा। दुष्यन्त के चले जाने पर शकुन्तला विरह-व्यथा से पीड़ित रात-दिन उसी का चिन्तन करती रहती है। दुर्वासा की उपस्थिति, क्रुद्ध होकर उनका शाप देना भी वह न देख-सुन सकी। कण्वमुनि के आने पर गर्भवती शकुन्तला लज्जावनतमुखी होकर जब उनके सामने खड़ी होती है तो ऋषि सब कुछ समझ जाते हैं। कुपित होने के बजाय वह उसे आशीर्वाद देकर पति-गृह को विदा कर देते हैं। विदा होते समय शकुन्तला के भावों को कालिदास इतने मार्मिक शब्दों में व्यक्त करते हैं कि पत्थर के भी आँसू आ जाते हैं।

शकुन्तला का दुष्यन्त के प्रति जो उद्दाम प्रेम है वह हस्तिनापुर पहुँचते ही ठोकर खाकर बिखर जाता है। जब राजा उससे अपरिचित का-सा व्यवहार करता है तो उसका हृदय धड़कने लगता है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाती है। पति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम से निःसृत वाणी पहले आर्यपुत्र कहकर दुष्यन्त को सम्बोधित करती है, फिर उसका स्वाभिमान नारीत्व का अहं उसे सचेत करता है और वह आर्यपुत्र के स्थान पर दुष्यन्त को पौरव कहकर उससे कहती है कि धार्मिक विधि से गान्धर्व-विवाह करने के बाद इस तरह अस्वीकार करना क्या उचित है? लेकिन उसका वह स्वाभिमान, यह अहं उस वक्त धूल-धूसरित होकर धराशायी हो जाता है जब वह अंगुलीयक अभिज्ञान दिखाने के लिए अँगुली पर हाथ रखती है और अँगुली सूनी मिलती है। उसका चेहरा फक् पड़ जाता है तो ताना कसता हुआ दुष्यन्त कहता है—'स्त्री जाति बड़ी तिकड़मी होती है।'

दुष्यन्त का यह व्यंग्य सुनते ही शकुन्तला का घायल अहं सजग हो जाता है। क्रुद्ध सर्पिणी की तरह फुफकारती हुई वह कहती है—अनार्य, अपने ही समान तू सबको समझता है। धर्म का आवरण ओढ़े हुए तू घास-फूस से ढके हुए अन्धकूप के समान है। तेरे समान छलिया शायद ही कोई हो।

उसका नारीत्व ललकारते हुए बोला—तुमने मेरे साथ जो गान्धर्व-विवाह किया है, उसका साक्षी केवल धर्म है। कुलीन घर की स्त्री क्या कभी निर्लज्ज बनकर परपुरुष की इच्छा कर सकती है? क्या तू यह समझता है कि मैं स्वेच्छा-चारिणी गणिका बनकर तेरे सामने उपस्थित हुई हूँ।

जब तापसी गौतमी यह कहकर कि पुत्री, तूने इस शठ के साथ अपनी

इज्जत गवाँकर जो भूल की है उसे अब भोग, मैं तो जाती हूँ—चलने लगी त शकुन्तला उस समय असहाय अबला बनकर बुबकार छोड़कर रो पड़ती है इस दुष्ट ने तो मेरा परित्याग कर ही दिया तुम भी छोड़ रही हो—कहक जब शकुन्तला उसके पीछे-पीछे चल पड़ती है तो शार्ङ्गरव उसे स्वेच्छा चारिणी कहकर उसकी अवहेलना करता है। तब शकुन्तला कदली-पत्र की तरह काँप उठती है। उसके चलते हुए पैर रुक जाते हैं, तो राजपुरोहित सन्तानोत्पत्ति की अवधि तक अपने यहाँ रखने का प्रस्ताव जब शकुन्तला से करते हैं तो फिर उसका सतीत्व उभर आता है। अहंता, ममता और विवशता को त्रिवेणी उस समय उसके हृदय में प्रवाहित होने लगती है और वह धरती में समा जाने के लिए धरती से फट जाने की प्रार्थना करती है कि इतने ही में आकाशमार्ग से आकर उसकी माँ मेनका अप्सरा उसे उठा ले जाती है।

महाभारत की मूलकथा से व्यतिरिक्त इस कल्पना के द्वारा कालिदास ने यहाँ पर शकुन्तला के चरित्र को अतिशय उदात्त और उन्नत बनाने में अपनी कला का प्रशस्त परिचय दिया है। नारीत्व की मर्यादा उसकी प्रतिष्ठा का व्याख्या करते हुए कवि ने सती और कुलटा स्त्री के अन्तर को बड़े सहज और सूक्ष्म ढङ्ग से बताया है।

एक ओर कालिदास शकुन्तला के परित्याग को दुष्यन्त का अन्याय ठहराता है, दूसरी ओर ऋषि-शाप के कारण भ्रान्ति हो जाने का प्रसंग प्रस्तुत कर उसे निर्दोष भी सिद्ध करता है। साथ ही, सतीत्व और सदाचार की महत्ता को इतना ऊँचा बनाता है कि सच्चा पति प्रेमी साध्वी स्त्री का सदाचार और सतीत्व ऋषि के शाप को भी विमर्दन कर ऊँचा उठ जाता है।

मारीचि-आश्रम में पहुँचकर सर्वदमन को उत्पन्न करने के बाद भी शकुन्तला को दुष्यन्त का विरह ताप सन्तप्त बना रहता है। दुष्यन्त द्वारा ठुकरायी गई, अपमानित शकुन्तला अपने प्रेमी को भुला नहीं पाती। यहीं पर प्रेम की पवित्रता और चरित्र का चरम विकास है। फिर भी उसका स्वाभिमान, उसका अपमान दुष्यन्त के प्रति एक उपेक्षा की भावधारा हृदय-सरिता में प्रवाहित करता है। स्वर्ग से लौटे हुए दुष्यन्त जब बालक सर्वदमन को अनजाने अपना पुत्र समझकर वात्सल्य से विभोर होकर उसे गोद में उठा लेते हैं और शकुन्तला भी वहीं

आ जाती है, उस समय सर्वदमन जब शकुन्तला से दुष्यन्त की ओर इशारा करके पूछता है कि यह कौन है तो शकुन्तला कहती है—अपने भाग्य से पूछो?

शकुन्तला द्वारा कहे गये इस एक वाक्य में ही समस्त अभिज्ञान शाकुन्तल का सारमर्म निहित हो गया है, जिसमें पुत्र के प्रति ममता, पति के अन्याय के प्रति घृणा और भाग्य के अत्याचार की मर्मकथा है।

दुष्यन्त और शकुन्तला को कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल के माध्यम से केवल इसलिए विश्व-विश्रुत बनाने का श्रेय प्राप्त किया है कि नायक और नायिका दोनों का पतन अभ्युदयोन्मुख रहा है।

२. विक्रमोर्वशी नाटक

कथावस्तु

विक्रमोर्वशी नाटक का कथासूत्र ऋग्वेद की पुरूरवा और उर्वशी की कथा से लेकर कालिदास ने उसमें काफी परिवर्तन, परिवर्द्धन किए हैं। पाँच अंकों का यह नाटक पार्थिव और स्वर्गीय दोनों प्रकार की घटनाओं से संयुक्त होने से कुछ आलोचकों की दृष्टि में त्रोटक नाटक माना जाता है और कुछ आलोचक इसे त्रोटक इसलिए नहीं मानते हैं कि त्रोटक नाटक के प्रत्येक अंक में विदूषक होना चाहिए, किन्तु इसके प्रत्येक अंक में विदूषक न होने से यह त्रोटक नाटक नहीं है। मालविकाग्निमित्र, शाकुन्तल की भाँति विक्रमोर्वशी नाटक में विदूषक समस्याओं को सुलझाने का प्रमुख कार्य न कर केवल मूर्ख बनकर कार्य करता है।

विक्रमोर्वशी यह नाम मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञान शाकुन्तल की भाँति अन्वर्थक प्रतीत होता है। आलोचकों का अनुमान है कि कालिदास ने अपने आश्रयदाता विक्रम का नाम जोड़ने की लालसा से पुरूरवा के स्थान पर विक्रम नाम की योजना की है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ९५ सूक्त में पुरूरवा और उर्वशी का जो संवाद है, उसका स्पष्टीकरण शतपथ ब्राह्मण (५,१—२) तथा मत्स्यपुराण, वाल्मीकि रामायण और महाभारत में कुछ परिवर्तनों के साथ मिलता है। कालिदास ने इसी कथा-सूत्र को पकड़कर अपनी कल्पना के आधार पर कुछ परिवर्तन करके विक्रमोर्वशी नाटक की रचना की है।

प्रथम अंक

चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा को अप्सराओं से जब यह ज्ञात होता है कि उनकी सखी उर्वशी को असुर उठाकर लिए भागे जाते हैं तो वह तुरन्त उसे छुड़ाने के लिए असुरों का पीछा करता है। उन्हें पराजित कर वह उर्वशी को छीनकर अपने रथ पर बैठाकर अपनी राजधानी आता है। दोनों में परस्पर आसक्ति बढ़ जाती है। उर्वशी देवलोक की स्वर्गीय सुन्दरी है, उसका स्थान स्वर्ग के अधिपति इन्द्र के समीप है, उसे वहीं रहना चाहिए, भूलोक के मनुष्यों के बीच नहीं--इन्द्र का यह सन्देश पाकर उर्वशी स्वर्ग चली गई। दोनों प्रेमी-प्रेमिकाओं का वियोग हो जाता है।

दूसरा अंक

प्रिया-विरह कातर राजा पुरूरवा अपने प्रमदवन में उन्मत्त की तरह जब घूमता है तो पग-पग पर वह अपनी विरहावस्था व्यक्त करता है। उसकी कातर वेदना से व्यथित होकर उर्वशी कुछ क्षण के लिए प्रमदवन में अचानक पहुँच जाती है और एक प्रेम-पत्र द्वारा वह राजा के प्रति अपना प्रेमोन्माद व्यक्त करती है तो प्रमदवन में टहलती हुई राजा की रानी के हाथ उर्वशी का वह पत्र लग जाता है। पत्र को पढ़कर रानी अप्रसन्न होती है। राजा बहुत अनु-नय-विनय करता है, किन्तु रानी प्रसन्न नहीं हुई।

तीसरा अंक

रानी अपना मान जताती हुई उत्तरोत्तर अप्रसन्नता प्रकट करती है। राजा विनम्रता और विवशता प्रकट करता हुआ उससे क्षमा माँगता है, तब रानी प्रसन्न होती है। इसी बीच इन्द्रलोक में लक्ष्मी-स्वयंवर नाटक खेला जाता है। उर्वशी लक्ष्मी की भूमिका में अभिनय तो करती है किन्तु उसका मन पुरूरवा में लगा होने से अभिनय के बीच चलते हुए कथनोपकथन में जब उससे पूछा जाता है कि उसका हृदय किस पर आसक्त है तो लक्ष्मी का अभिनय करती हुई उर्वसी पुरुषोत्तम विष्णु के नाम लेने के बजाय पुरूरवा का नाम ले लेती है। रस भंग हो जाता है। निर्देशक भरत कुपित होकर शाप दे देते हैं। उर्वशी के बहुत रोने-धोने पर, क्षमा माँगने पर इन्द्र उसे मृत्युलोक में पुरूरवा के पास

ने के लिए भेज देते हैं। साथ ही, उसके मृत्युलोक निवास की अवधि पुत्रा-प्ति काल तक को निर्धारित कर देते हैं।

चौथा अंक

पुरूरवा के साथ विहार करती हुई उर्वशी कैलास की उपत्यका में स्थित कुमार-कानन में पहुँच जाती है जहाँ स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध था। वहीं भरत-मुनि का शाप सार्थक होता है, उर्वशी तुरत लता बन जाती है। उर्वशी के सहसा गायब हो जाने पर पुरूरवा विकल होकर उसे खोजता है। वह कातर प्रणयी कानन के पशु-पक्षियों, लता-गुल्मों से अपनी प्रिया को पूछता हुआ पागल बन जाता है। अन्त में नेपथ्यवाणी सुनकर वह संगम मणि प्राप्त करता है, जिसके कारण उर्वशी उसे फिर मिल जाती है।

पाँचवाँ अंक

कई वर्ष पुरूरवा के साथ विहार करने के बाद उर्वशी गर्भवती होती है और फिर वह आयुष नाम का पुत्र पैदा करती है, जिसे चुपचाप ऋषि के आश्रम में रख देती है। तपस्वियों के यहाँ शिशु का पालन-पोषण कौन करेगा, यह सोचकर ऋषि उसे उसके पिता के यहाँ भेज देते हैं। शर्त के अनुसार पुत्र पैदा होने के बाद उर्वशी को इन्द्रलोक चला जाना चाहिए, किन्तु दैत्यों के संहार करने से इन्द्र पुरूरवा पर प्रसन्न होकर उर्वशी को उसे भेंट कर देते है। उर्वशी और पुरूरवा आनन्द से रहने लगते हैं।

आधार : प्रयोजन

घटनाओं को वक्रगति से लाकर उन्हें मूल कथानक से जोड़ना कालिदास की रचना-शैली की एक प्रमुख विशेषता है। पार्थिव और अपार्थिव भावनाओं को कोमल से कोमलतर बनाकर कथानक को रमणीयता के सहकार से प्रकृति की चारुता, निष्पन्नता को प्रकट करना कवि का उद्देश्य जान पड़ता है। सच तो यह है कि प्राकृत-अप्राकृत घटनाओं का संयोजन करके कालिदास अपनी नाट-कीय प्रतिभा का परिचय इस नाटक के माध्यम से देने का उद्देश्य रखता है। वह अपने युग के आलोचकों के समक्ष एक परिमार्जित नवीन नाट्यकला का प्रयोग रखकर उनका दृष्टिकोण जानने की इच्छा रखता था। विक्रमोर्वशी में

प्रकृति के माध्यम से मानवीय-मर्यादाओं की प्रतिष्ठा की गई है। मानवी चेत
और प्रकृति का अद्भुत समन्वय इस प्रकार नाटक में स्थापित करते हुए कालिद
ने पार्थिव और अपार्थिव का सम्बन्ध मानवी पृष्ठभूमि में जोड़कर अपने उद्दे
की सहज व्याख्या की है। बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति दोनों का समन्
विक्रमोर्वशी की रचना का एक अन्यतम उद्देश्य है।

३. मालविकाग्निमित्र नाटक

कथावस्तु

मालविकाग्निमित्र शुङ्ग-शासनकाल की घटी हुई ऐतिहासिक घटनाओं
लेकर रचा गया ऐतिहासिक नाटक है। इसमें पांच अंक हैं। इसके सभी पा
ऐतिहासिक हैं। विदर्भ के राजा अग्रसेन के चचेरे भाई माधवसेन की बहि
मालविका अनिंद्य सुन्दरी थी। माधवसेन अपनी बहिन का विवाह विदिशा
राजा अग्निमित्र के साथ करना चाहता था, किन्तु यज्ञसेन को यह मंजूर न था
जिस समय माधवसेन अपनी बहिन मालविका को लेकर विदिशा की ओर ज
रहा था, यज्ञसेन ने मार्ग में ही उस पर आक्रमण कर उसे बन्दी बना लिया
किन्तु माधवसेन के अन्य साथी मालविका सहित आगे बढ़ गए। रास्ते में उ
पर डाकुओं ने आक्रमण कर दिया। मालविका लुक-छिपकर भागी, किन्तु रास्त
भटक कर वह विदिशा के सैनिकों के हाथ पहुँचकर अग्निमित्र की रान
धारिणी के संरक्षण में रख दी गई। किसी चित्रकार द्वारा बनाए गए मालविक
के चित्र को देखकर राजा अग्निमित्र उस पर आसक्त हो गया और अपने विदू
षक सखा की सहायता से उसने मालविका से मिलने-जुलने का प्रबन्ध भी
कर लिया।

अग्निमित्र के स्वभाव से परिचित होने के कारण रानी धारिणी मालविक
को छिपाकर रखती थी। वह प्रयत्नशील रहती थी कि राजा की नजर उस प
न पड़ सके, किन्तु अग्निमित्र और मालविका का प्रणय-व्यापार चोरी-चोरी चल
रहा था। एक दिन छोटी रानी इरावती ने देख लिया। उसने पटरानी धारिणी
से रहस्य प्रकट कर दिया। मालविका को रनिवास के जेल में बन्द कर दिया
गया।

कुछ दिनों बाद मालविका के भाई माधवसेन के भृत्य जो रास्ता भूल गए र, अकस्मात् अग्निमित्र के दरबार में पहुँचे। वहाँ उन्होंने मालविका का सारा परिचय-वृत्त बतलाया। परिचय मिल जाने पर रानी धारिणी को ज्ञात हुआ कि मालविका उसके रिश्ते की बहिन लगती है—तो उसने बहुत पश्चात्ताप किया और अन्त में अग्निमित्र के साथ मालविका का विवाह हो जाता है।

अग्निमित्र का काल ईसवी सन् से सौ वर्ष पूर्व के आसपास ठहरता है। इस नाटक में जिन घटनाओं का चित्रण है, वे प्रत्यक्ष देखी हुई या उन घटनाओं के कुछ दिन बाद की ताजी स्मृति प्रतीत होती है। अंकों के अनुसार कथासार इस प्रकार है—

प्रथम अंक

विदिशा के राजा अग्निमित्र की रानी धारिणी का भाई वीरसेन सीमांत का रक्षक था। अपने प्रिय परिजनों से बिछुड़ी हुई विदर्भ की राजकन्या मालविका उसके हाथ लगी, उसे रूपवती देखकर वीरसेन ने अपनी बहिन धारिणी के पास दासी के रूप में नियुक्त कर दिया। रानी ने मालविका को नृत्य संगीत की शिक्षा देने के लिए नाट्याचार्य गणदास को नियुक्त कर दिया क्योंकि उसके शील, स्वभाव, सौन्दर्य और गुणों को देखकर रानी ने अनुमान लगा लिया कि यह लड़की किसी उच्चकुल की है।

एक दिन रानी धारिणी अपने परिजनों सहित चित्रशाला के चित्र देख रही थी कि अग्निमित्र भी वहाँ पहुँच गया। वह चित्रगत मालविका को देखकर मुग्ध हो गया और चित्रगत पात्र के सम्बन्ध में जब रानी से जानकारी प्राप्त करने के लिए वह उतावला हो गया तो रानी को संशय हो गया और उसने मालविका का ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि राजा उसे देख न सके।

इसके बाद राजा और अमात्य के संभाषणों के व्याज से यह बताया गया है कि मौर्य राजा को पदच्युत कर अग्निमित्र के पिता सेनापति पुष्यमित्र गद्दी का अधिकारी बन गया है। इसी समय विदर्भ की राजगद्दी के लिए यज्ञसेन और माधवसेन दो चचेरे भाइयों में कलह उत्पन्न हो गया। उनमें से माधवसेन अपनी बहिन मालविका को अग्निमित्र को देने तथा उससे सैनिक सहायता लेने

के लिए विदिशा जा रहा था तो उसके भाई यज्ञसेन ने जो शासनारूढ़
अपने सीमान्त रक्षकों द्वारा माधवसेन को बन्दी बना लिया ।

अग्निमित्र को जब यह समाचार मिला तो उसने यज्ञसेन को माधव
और उसकी बहन को मुक्त कर देने को लिखा । यज्ञसेन ने जवाब दिया कि
साले मौर्य राजा के मंत्री जो तुम्हारे यहाँ बन्दी हैं, उन्हें छोड़ देने पर
माधवसेन को छोड़ सकता हूँ । रह गई मालविका, सो तो भगदड़ में कहीं भट
गई है और उसका पता लगाया जा रहा है ।

यज्ञसेन का ऐसा उत्तर पाकर अग्निमित्र को जो बहुत दिनों से विदर्भ
खार खाए हुए था, बहाना मिल गया । उसने सेनापति को तुरन्त विदर्भ प
चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी । इधर अग्निमित्र का सखा विदूषक राजा
मालविका की भेंट कराने का कूट प्रयत्न करने में सफल होता है । वह राजा
नाट्याचार्य हरदत्त और रानी के नाट्याचार्य गणदास में कलह और विवा
पैदा करा देता है । दोनों अपने-अपने को श्रेष्ठ कहकर झगड़ने लगे तो विदूष
की सलाह से दोनों इस बात का कि कौन श्रेष्ठ नाट्याचार्य है—निर्णय करा
के लिए राजा के पास गए ।

राजा दो में से किसी एक के पक्ष में निर्णय देने में असमर्थ हो गया क्योंवि
अपने नाट्याचार्य को श्रेष्ठ बताने से रानी कुपित होंगी और रानी के नाट्याचा
को श्रेष्ठ कहने से अपनी ही पराजय होती है । इत धर्मसंकट में वह सुझा
देता है कि रानी के सामने परिव्राजिका कौशिकी को निर्णायक बनाया जाए
राजा का सुझाव दोनों मान लेते हैं । भगवती कौशिकी कहती हैं कि जो स्वत
निपुण होकर दूसरों को शिक्षा देकर निपुण बनाता है वही श्रेष्ठ शिक्षक मान
जाता है इसलिए तुम अपनी अपनी शिष्याओं की परीक्षा नेपथ्यरहित मंच
दिखाओ' ?

रानी धारिणी को उन दोनों का विवाद जँचा नहीं । परिव्राजिका कौशिक
के फैसले से उसका संशय संदेह बन जाता है । वह ताड़ जाती है कि मालविक
को देखने के लिए राजा का यह षड्यंत्र है, इसलिए वह राजा को इस प्रकार
का कौशल राजकाज में दिखाने की बात कहकर दुत्कारती है । लेकिन अपने
नाट्याचार्य गणदास का हठ मानकर रानी भी स्वीकृति दे देती है । सब लोग

नाट्याचार्यों की शिष्याओं की अभिराम प्रतियोगिता देखने के लिए रंगमंच उपस्थित होते हैं।

दूसरा अंक

अन्तःपुर की रंगशाला में छालिक्य नाम का नाट्य आरंभ होता है। गण- वयोवृद्ध नाट्याचार्य था इसलिए सर्वप्रथम उसी की शिष्या मालविका मंच पर उतरती है। मालविका का रूप लावण्य देखकर राजा उन्मत्त बन ा है। अभिनय समाप्त कर जब वह चलना चाहती है तो विदूषक किसी ने से उसे रोक लेता है। रानी को यह बात खल जाती है किन्तु गणदास के रह से वह कुछ बोलती नहीं है। विदूषक से गणदास पूछता है कि अभिनय में ने कौन-सी त्रुटि देखी है? विदूषक कहता है कि परीक्षक भगवती परि- जका से पहले पूछो। मैं बाद में बताऊँगा। इस तरह हँसी-मजाक में विदूषक तक मालविका को रंगमंच पर खड़ा रखता है।

इसके बाद राजा नाट्याचार्य हरदत्त की शिष्या—राजा की दूसरी नव- ाना रानी के अभिनय की बारी आती है, परंतु राजा अब इसका अभिनय ने को उत्सुक नहीं होता। विदूषक ताड़ लेता है और भोजन का समय हो े के बहाने से इरावती का अभिनय-प्रदर्शन दूसरे दिन के लिए टाल ा है।

तीसरा अंक

परिव्राजिका प्रमदवन की उद्यानपालिका से कहती है कि दोनों नाट्याचार्य ा-निपुण हैं, किन्तु उत्तम शिष्या मिलने से गणदास की जीत हुई है। छोटी ी राजा से अपनी दासी के द्वारा वसंत ऋतु में एक साथ झूला झूलने की र्थना करती है। राजा स्वीकृति देकर विदूषक के साथ प्रमदवन में टहलने े हैं। विदूषक की धूर्तता से रानी धारिणी झूले से गिर पड़ती हैं। उनके में चोट आ जाने से अशोक वृक्ष में पाद-प्रहार कर फूल खिलाने का भार वह लविका को सौंपती हैं। प्रमदवन में बैठी हुई मालविका को देखकर राजा से मिलते हैं। छोटी रानी को संदेह हो जाने से वह अपनी सहचरी के साथ ाँ पहुँच जाती है। चोरी पकड़ी जाती है। राजा गिड़गिड़ाकर रानी से क्षमा ते हैं, किन्तु वह मुँह फुलाकर वहाँ से चली जाती है।

चौथा अंक

रानी इरावती ने महारानी धारिणी से शिकायत की तो उन्होंने माल
और उसकी सहचरी बकुलावलिका को अन्तःपुर की सुरंग में बन्द
देती हैं और आज्ञा देती हैं कि जब तक हमारी नागमुद्रा न दिखायी जा
तक इन्हें मुक्त न किया जाए।

यह समाचार सुनकर राजा बहुत दुःखी हुआ तो विदूषक ने फिर
की। वह फूल तोड़ने के बहाने उद्यान में गया और जनेऊ से अँगुली ब
रानी धारिणी के पास आकर बोला कि आपके लिए फूल तोड़ने गया था,
साँप ने काट लिया। यह कहकर वह बेहोश होकर गिर पड़ा। रानी को
दुःख हुआ और उन्होंने चिकित्सा के लिए तुरंत ध्रुवसिद्धि राजवैद्य के पास
भिजवाया। विदूषक की साजिश से वैद्य ने रानी के पास सन्देश भेजा कि
सारे शरीर में फैल चुका है। अब तो एक ही इलाज है, यदि नागमुद्रा का
हुआ जल पिलाया जाए तो बचाया जा सकता है।

रानी तुरंत अपनी नागमुद्रा उतार कर देती हुई हिदायत करती है
अँगूठी उन्हीं को वापस की जाए। अँगूठी पाते ही विदूषक ने मालविका
बकुलावलिका को बन्दीगृह से निकाला और उन्हें प्रमदवन भेज दिया। व
वलिका अन्यत्र चली जाती है और राजा प्रमदवन में मालविका से फिर मि
हैं। रानी इरावती फिर देख लेती हैं और एकान्त में लेटा हुआ वि
सपने में मालविका को इरावती से बढ़कर कहता हुआ जब बड़बड़ाता है
रानी इरावती का चेहरा फक पड़ जाता है, वह महारानी को बुला लाने के
दासी भेजती हैं।

पाँचवाँ अंक

रानी के भाई वीरसेन विदर्भ पर विजय प्राप्त कर बहुमूल्य रत्न और क
कुशला दो दासियाँ भेंट में भेजता है। रानी धारिणी मालविका और परिव्रा
के साथ फूले हुए अशोक को देखने प्रमदवन में जाती हैं और राजा को भी
भेजती हैं। वहीं पर माधवसेन की भेजी हुई दो कला-निपुण दासियाँ व
कंचुकी आता है। वे दासियाँ मालविका को पहचान लेता हैं कि यह ह
स्वामी की बहन हैं जिन्हें माधवसेन के मंत्री सुमति गुप्तरीति से हटा ले

पश्चात् परिव्राजिका पूरी कहानी सुनाती है। सुमति परिव्राजिका का भाई और मालविका माधवसेन की बहिन—यह जानकर रानी धारिणी बहुत ...त्ताप करती हैं और राजा से उसका विवाह कर देने का संकल्प करती हैं। ... समय यज्ञाश्व की रक्षा में नियुक्त राजकुमार वसुमित्र के अश्वमेध विजयी ... का समाचार मिलते ही रानी बहुत प्रसन्न होती हैं और उसी प्रसन्नता में ...विका का हाथ अग्निमित्र को पकड़ा देती हैं।

...ार : प्रयोजन

आलोचकों का मत है कि यह नाटक कालिदास की प्रथम रचना है और ...ने समय के इतिवृत्त पर आधारित है। पुष्यमित्र का अश्वमेधयज्ञ करना, ...ग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र का यज्ञाश्व की रक्षा करते हुए यवनों को पराजित ...ना। अग्निमित्र द्वारा विदर्भ को पराजित कर वहाँ द्वैराज्य की स्थापना ...ना इत्यादि इस नाटक की घटनाएँ ऐतिहासिक तथ्य रखती हैं। जो ...द्वान् कालिदास को गुप्तकालीन मानते हैं उनके मत से यह नाटक गुणाढ्य की ...त्कथा की उदयन-वासवदत्ता की कहानी पर आधारित है और जो ईसवी सन् ...पूर्व कालिदास की स्थिति मानते हैं उनका कहना है कि कालिदास ने आँखों-...ी घटनाओं को इस नाटक में उतारा है अथवा उस काल में इन घटनाओं की ...ृति जन-मानस में बिल्कुल ताजी रही होगी। कुछ भी हो, नाटक की कुछ ...टनाएँ इतनी सूक्ष्म और गोप्य हैं, जिन्हें आँखों से देखकर लिखे जाने का ...श्वास होता है। इस नाटक का कथानक कुल मिलाकर आठ-दस दिन के ...न्दर का है।

मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना से ही कवि की इस रचना का प्रयोजन ...द्ध लक्षित होता है। वह अपने पूर्ववर्ती भास, सौमिल्ल आदि यशःप्राप्त ...टककारों की ख्याति से प्रभावित जान पड़ता है। वह उनके यशःक्षेत्र में ...विष्ट होते हुए 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' कहकर जन समाज और समीक्षकों ... समक्ष प्राचीन नाटचकृतियों की प्रतियोगिता में सामयिक घटनाओं पर अव... ...म्बित शुंग-शासनकालीन मालविकाग्निमित्र नाटक को प्रस्तुत करता है। जनता ...ौर शासक नाटक के माध्यम से रंगमंच पर उतरी हुई सामयिक घटनाओं को

देखकर भास, सौमिल्ल की भावभूमि को भूलकर अपने समय के नाटकीय को देखकर प्रभावित होती है।

मालविकाग्निमित्र नाटक की रचना से पूर्व भास आदि की पौराणिक कथ पर आधारित रचनाओं में नवीनता का कोई आकर्षण नहीं था। कालिदास प्रथम नाटककार था, जिसने ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाली अपनी आँखों दे घटनाओं को अपनी नाट्यकला का माध्यम बनाने का श्रेय प्राप्त किया है।

४. रघुवंश

कथावस्तु

संस्कृत काव्य-परम्परा में वाल्मीकि रामायण के बाद रघुवंश को समीक्षकों ने सुन्दरतम काव्य कहा है। उन्नीस सर्गों के इस महाकाव्य में रघुवं राजाओं के चरित वर्णित हैं। इस महाकाव्य में दिलीप, रघु, अज, दशर राम, कुश, लव से लेकर अग्निवर्ण तक का वर्णन है। राम इस महाकाव्य प्रमुख नायक हैं, राम के बाद रघु प्रधान पात्र हैं। सूर्यवंशी राजाओं का ऐ संक्षिप्त, किन्तु संयमित और प्रभावकारी वर्णन किसी पुराण में नहीं मिलता है आलोचकों ने रघुवंश को वाल्मीकि रामायण से बढ़कर काव्य माना है सर्गानुक्रम से इसकी कथा इस प्रकार है—

प्रथम सर्ग

सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु के वंशधर राजा दिलीप थे। उनकी रानी का ना सुदक्षिणा था। उत्तर कोसल के इस राजा के कोई सन्तान न थी इसलिए दम्प बहुत दुःखी थे। चिन्तित राजा अपनी रानी के साथ कुलगुरु वसिष्ठ के आश्र में गये। वहाँ उन्होंने गुरु से अपनी सन्तानहीनता का कारण पूछा तो गुरु ध्यान-योग से पता लगाकर बताया कि 'इन्द्रलोक से लौटते हुए राजा ने रास में खड़ी हुई कामधेनु को प्रणाम न कर अनजाने सुरधेनु का अनादर किया त उसने सन्तानहीन होने का शाप दे दिया'।

राजा ने शापोद्धार का उपाय पूछा तो गुरु वसिष्ठ ने बताया कि कामधे की सन्तान नन्दिनी हमारे आश्रम में है, उसकी सेवा करने से पुत्र उत्पन्न सकता है।

दूसरा सर्ग

नन्दिनी की सेवा का व्रत धारण कर राजा दिलीप तन-मन से कामधेनु पुत्री की सेवा करने लगे। प्रातःकाल उठते ही राजा-रानी उसकी शुश्रूषा में जाते, रानी उसकी अर्चना कर जङ्गल में चरने के लिए उसे विदा करती और राजा धनुष-बाण लेकर उसकी रक्षा के लिए पीछे-पीछे चल देते। जहाँ बैठती वहीं राजा बैठ जाते, उसके चलते रहने पर चलते रहते, रुकने पर क जाते—छाया की भाँति राजा नन्दिनी के साथ रहते। वन से लौटने पर श्रम के बाहर रानी नन्दिनी का स्वागत करती, उसकी आरती उतारती थी।

इस प्रकार सेवा करते हुए कुछ दिन बीत जाने पर नन्दिनी ने राजा की रीक्षा करने के लिए अपनी माया से एक सिंह उत्पन्न किया और उसके चंगुल फँसकर वह आतुर स्वर से रँभाने लगी लपक कर राजा उसके पास पहुँचते , सिंह को मारने के लिए तरकस से बाण खींचते समय उनका हाथ तरकस र चिपक जाता है, छुड़ाए नहीं छूटता था, विवश होकर राजा ने सिंह से ार्थना की कि वह नन्दिनी के बदले उसे खा जाए।

नन्दिनी राजा की ऐसी निष्ठा पर प्रसन्न हो जाती है और पुत्रवान् होने ा वरदान राजा को देती है।

तीसरा सर्ग

नन्दिनी के वरदान से रानी सुदक्षिणा गर्भवती होती है, समय पर उसे त्रलाभ होता है। पुत्र का नाम रघु रखा जाता है। बहुत दिनों बाद पुत्र का ुँह देखकर उसके कोमल अंगों का स्पर्श कर उनका तन, मन पुलकित हो जाता ै। धीरे धीरे पुत्र बढ़ता है। अल्पकाल में सभी विद्याओं में निष्णात हो क्षत्रिय र्म का प्रतीक धनुष धारण कर लेता है। शस्त्र और शास्त्र दोनों में पारंगत रुण पुत्र को दिलीप युवराज का पद प्रदान करते हैं। इसके बाद राजा अश्व-ेध यज्ञ ठान देते हैं। यज्ञाश्व की रक्षा के लिए विशाल वाहिनी सहित रघु नियुक्त किए जाते हैं। अश्व के साथ वर्ष पर्यन्त घूम घूमकर रघु शत्रुओं को राजित करते रहे, अंत में अचानक यज्ञाश्व आँखों से ओझल हो जाता है। हसा अश्व के ग़ायब हो जाने से रघु जब बहुत विस्मित और विकल हुए तो

नन्दिनी गाय वहाँ उपस्थित होकर बोली कि मेरा दूध आँखों में आँज लो। नन्दिनी का दूध आँखों में लगाते ही रघु को पूर्व दिशा में दिखायी पड़ा कि अश्व को लिए इन्द्र खड़ा है। रघु ने इन्द्र को युद्ध के लिए ललकारा। दोनों में घनघोर युद्ध छिड़ गया। रघु ने अपने रण-कौशल से इन्द्र को आश्चर्यचकित कर दिया तो इन्द्र ने प्रसन्न होकर रघु से अश्व को छोड़कर कोई भी वरदान माँगने के लिए कहा। रघु ने कहा कि ठीक है मुझे वरदान दो कि यज्ञाश्व के बिना ही मेरे पिता का यज्ञानुष्ठान पूरा हो जाए। तथास्तु कहकर इन्द्र अन्तर्धान हो गए। रघु ससैन्य अयोध्या लौटे। विजयी पुत्र को दिलीप ने हृदय से लगा कर स्वागत किया और यज्ञ की पूर्णाहुति करके सुयोग्य पुत्र को राजछत्र और राजदंड देकर कुल-परम्परा के अनुसार वह सुदक्षिणा सहित वन चले जाते हैं और रघु चक्रवर्ती शासन का भार सँभालते हैं।

चौथा सर्ग

राज्याभिषेक हो जाने के बाद रघु ने दिग्विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। सर्वप्रथम पूर्व के सुह्म और बंगाल के राजाओं को पराजित कर गंगा के डेल्टा में उन्होंने विजय-स्तम्भ खड़ा किया। फिर पूर्व समुद्र के किनारे-किनारे दक्षिण की ओर बढ़े। कलिंग की सेना को पराजित करते हुए कावेरी नदी को पारकर पाण्ड्य देश के राजा पर आक्रमण किया। प्रतापी पाण्ड्य नरेश पराजित हुए। रघु ने उनसे कर के रूप में मोती वसूल किये। फिर मलय और दर्दुर पर्वतों को पारकर वह अपरान्त प्रदेश में पहुँचे। वहाँ के केरलीय राजा को पराजित कर स्थल मार्ग से पारसीक देश पहुंचे। पारसीकों से युद्ध हुआ। पराजय स्वीकार कर उन्होंने अपनी-अपनी पगड़ियाँ उतारकर रघु के चरणों पर रख दीं। वहाँ से रघु वाह्लीक देश पहुँचे, वहाँ हूणों को परास्त कर वह अपने घोड़ों को केशर के खेतों में चरने और लोटने के लिए छोड़ देते हैं। वहाँ से कम्बोज देश के राजाओं को पराजित करते हुए रघु हिमालय पर्वत पर स्थित उत्सवसंकेत आदि राजाओं को पराजित कर वीरतोत्सव करते हैं। हिमालय से उतरकर लौहित्य नदी को पारकर रघु कामरूप देश की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर पहुँचते हैं। कामरूप का राजा उनकी अधीनता स्वीकार कर उन्हें गजदल भेंट करता है। यहीं से रघु की दिग्विजय-यात्रा समाप्त होती है।

पाँचवाँ सर्ग

दिग्विजय कर चुकने के बाद रघु छत्र, चामर, राजदंड छोड़कर सारी संपदा दान कर देते हैं। इसी बीच वरतन्तु मुनि के शिष्य कौत्स मुनि गुरु-दक्षिणा के निमित्त चौदह लक्ष स्वर्णमुद्राओं का दान रघु से माँगने आते हैं। आए हुए अतिथि मुनि को मिट्टी के पात्र से अर्घ्य देकर रघु ने सम्मानित किया। किन्तु ब्रह्मचारी मुनि जब उनकी ऐसी त्याग, तपस्यारत स्थिति देखते तो वे असमंजस में पड़ जाते हैं। रघु ने आग्रह करके जब उनके आगमन का कारण ज्ञात कर लिया तो अतिथि को निराश लौटा देने में कुल-परम्परा भंग होने के भय से वह कुबेर पर चढ़ाई कर देने का संकल्प करते हैं। कुबेर को रघु के संकल्प का पता लग जाता है। वह डर के मारे स्वर्ण की मुद्राओं की वर्षा अयोध्या में कर देते हैं। कौत्समुनि वांछित धन पाकर रघु को तेजस्वी पुत्र पाने का आशीर्वाद देकर चले जाते हैं।

रघु का पुत्र अज के नाम से विख्यात होता है। विद्या, शौर्य आदि सभी गुणों में वह अपने पिता के तुल्य था। विदर्भराज की बहिन इन्दुमती के स्वयंवर का निमंत्रण पाकर रघु अपने पुत्र अज को विदर्भ भेजते हैं। रास्ते में नर्मदा नदी के किनारे अज ने एक उन्मत्त हाथी को मारा। वह हाथी गन्धर्व था, शापवश हाथी हो जाने पर इक्ष्वाकुवंशीय हाथों से मारे जाने पर उसकी शापमुक्ति लिखी थी। मर कर हाथी गन्धर्व बन गया और इस उपकार के बदले अज को मंत्रास्त्र प्रदान कर वह अपने लोक को चला गया। वहाँ से ससैन्य अज विदर्भ पहुँच जाते हैं जहाँ विदर्भराज उन्हें ससम्मान ठहराते हैं।

छठा सर्ग

विदर्भ में इन्दुमती के स्वयंवर की सभा इन्द्रपुरी की भाँति सजायी गयी थी। देश-भर के प्रमुख राजा अपने-अपने आसनों पर सुशोभित थे। सखी सुनन्दा के साथ इन्दुमती हाथ में वरमाला लिये स्वयंवर-सभा में जब प्रविष्ट होती है, उस समय सभी उपस्थित राजा ललचायी निगाहों से उसे देखने लगे। जिस राजा के सामने इन्दुमती खड़ी हो जाती वह आशान्वित होकर पुलक से भर जाता था किन्तु इन्दुमती के आगे बढ़ जाने पर वह बेचारा निस्तेज और लज्जित हो जाता था।

सुनन्दा प्रत्येक राजा का विस्तृत परिचय देती और एक के बाद दू को छोड़ती हुई इन्दुमती जब अज के सामने पहुँची तो वह वहाँ इस तरह रु जैसे समुद्र को पाकर नदी की गति शून्य हो जाती है। उसने सुनन्दा द्वा दिये जानेवाले परिचय की कोई परवाह न कर अज के गले में वरमा डाल दी।

सातवाँ सर्ग

अज और इन्दुमती का विवाह हो जाता है। इन्दुमती के साथ घ लौटते हुए अज को रास्ते में स्वयंवर में पराजित, निराश राजाओं ने घे लिया। अकेला अज अनेक राजाओं से घनघोर युद्ध करता है। अन्त में गन्धव द्वारा दिये गये मंत्रास्त्र से वह सबको परास्त कर देता है, फिर सबको क्षमा दान देकर अज इन्दुमती सहित अयोध्या पहुँचते हैं।

आठवाँ सर्ग

विवाह होने के थोड़े दिन बाद ही रघु की मृत्यु हो जाती है। अज ने संन्यासी पिता का श्राद्ध योगियों के ढंग का किया। अपने एक-एक शत्रु को विनष्ट कर अज निष्कण्टक राज्य करने लगे। एक दिन इन्दुमती के साथ वह विहार के लिए उद्यान गये। दोनों प्रसन्न-हृदय विहार-रत थे कि अचानक आकाशमार्ग से जाते हुए नारद की वीणा से छूटकर एक पुष्पमाला इन्दुमती की छाती पर गिरी और वह तत्काल मर गई। पूर्वजन्म की एक अप्सरा शापवश इन्दुमती हुई थी, जो नारद-वीणा की पुष्पमाला का स्पर्श पाते ही वह शापमुक्त होकर फिर अप्सरा बनकर देवलोक चली गई। इन्दुमती के मर जाने पर अज विह्वल होकर विलाप करने लगे। हर क्षण इन्दुमती की याद कर वह रो पड़ते थे। अन्त में उसी विरह में उन्होंने शरीर त्याग दिया।

उनके बाद उनके पुत्र दशरथ अयोध्या की राजगद्दी में अभिषिक्त होते हैं।

नवाँ सर्ग

इक्ष्वाकु-कुल की पद्धति के अनुसार शासन संचालित करते हुए राजा दशरथ एक दिन शिकार खेलने वन में गये। वहाँ एक सरोवर पर कलश में पानी भरते हुए एक मुनिपुत्र को पानी पीता हुआ हाथी समझकर दशरथ ने

ाण चला दिया। हा पिता !! हा माता ! कह कर वह मुनिकुमार पछाड़ ाकर गिर पड़ा। दौड़कर दशरथ उसके पास गये तो उसने अपने को श्रवण-ुमार बताया। वह अन्धे माता-पिता को कन्धे पर ढोकर तीर्थाटन करता था। यासे माता-पिता को पानी पिलाने के लिए वह जल भर रहा था।

मुनिकुमार के मर जाने पर दशरथ पानी लेकर उसके माता-पिता के पास जब जाते हैं तो पिता उन्हें अपनी ही भाँति पुत्रशोक में देहत्याग करने का शाप देकर सपत्नीक दिवंगत हो जाते हैं।

दशवाँ सर्ग

दशरथ की तीन रानियों से चार पुत्र पैदा होते हैं। सबसे ज्येष्ठ श्रीराम विष्णु के अवतार हैं। चारों छगन-मगन बालक अयोध्या के राजभवन में खेलते हैं, चहकते हैं। बूढ़े राजा दशरथ उनकी बाल-कीड़ाएँ देख-देखकर संतुष्ट और प्रसन्न होते हैं।

ग्यारहवाँ सर्ग

कुछ बड़े होने पर श्रीराम लक्ष्मण सहित विश्वामित्र के साथ उनकी यज्ञ-रक्षा के लिए जाते हैं। वहाँ ताड़का वध करके उनके आश्रम को भयरहित बनाते हैं। फिर विश्वामित्र के साथ दोनों भाई सीता का स्वयंवर देखने के लिए जनकपुर जाते हैं। वहाँ शिव-धनुष तोड़कर सीता से राम विवाह करते हैं। अयोध्या लौटते समय परशुराम का मान-मर्दन करते हैं।

बारहवाँ सर्ग

राजा दशरथ श्रीराम को युवराज पद देना चाहते हैं, किन्तु दासी मन्थरा के बहकावे में आकर रानी कैकेयी दशरथ से राम को बारह वर्ष का वनवास और उनके छोटे भाई अपने बेटे भरत को राजगद्दी का अधिकार माँग लेती है। राम, लक्ष्मण और सीता वन चले जाते हैं। उनके वियोग में दशरथ प्राणत्याग देते हैं। वन में सीता को रावण हर ले जाता है। सीता को खोजते हुए राम पम्पासर पहुँचते हैं। वहाँ सुग्रीव से मित्रता कर उसकी वानर-सेना लेकर वह लंका जाते हैं जहाँ रावण से युद्ध कर उसका विनाश करते हैं।

तेरहवाँ सर्ग

लंका पर विजय कर श्रीराम लक्ष्मण और सीता सहित पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हैं।

चौदहवाँ सर्ग

अयोध्या पहुँचने पर श्रीराम माताओं से मिलते हैं। माताओं की पथरायी हुई आँखों से आँसू नहीं गिरते। सीता बुबकार छोड़कर रोती हैं, उन्हें ग्लानि इस बात की है कि उनके कारण उनके पति पर संकट पड़ा। राम का राज्याभिषेक होता है। अयोध्या फिर पुलक उठती है। प्रजावत्सल राम सुखपूर्वक राज कर रहे थे कि यह अपवाद फैल गया कि असहाय सीता को जो इतने दिन तक रावण के घर रह आयी हैं उसे राम ने कैसे अंगीकार कर लिया। सीता गर्भवती थीं, यह अपवाद सुनकर राम से न निगलते बनता था न उगलते। अन्त में उन्होंने सीता को पुनर्वनवास देने का निश्चय कर लक्ष्मण के साथ वाल्मीकि आश्रम में भेज दिया। लक्ष्मण सीता को जंगल में छोड़कर जब अयोध्या लौट जाते हैं तो एकाकिनी असहाय सीता फूट-फूटकर रोने लगती हैं। ऋषि वाल्मीकि को उनका विलाप सुनाई पड़ता है, वह सीता को अपने आश्रम में ले आते हैं। राम अश्वमेध यज्ञ ठानते हैं। पत्नी के अभाव में सीता की सोने की प्रतिमा बनवाकर उसके साथ यज्ञ-अनुष्ठान सम्पन्न करते हैं।

पन्द्रहवाँ सर्ग

श्रीराम अपने भाइयों की सहायता से राज्य में होनेवाले विप्लवों को शान्त करते हैं। मथुरा के विप्लवी राक्षस का वध शत्रुघ्न करते हैं। वाल्मीकि आश्रम में रहती हुई सीता दो बच्चों को जन्म देती हैं। ऋषि दोनों बच्चों का विधिवत् संस्कार कर उनके नाम कुश और लव रखते हैं। उन्हें सविधि शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा देते हैं। वाल्मीकिजी रामकथा लिखकर उन दोनों राजकुमारों को कंठ कराते हैं, जिन्हें गा-गाकर वे सुकुमार बालक अपनी माता की वेदना कम करते हैं।

दोनों बालक वाल्मीकि मुनि के साथ राम के अश्वमेध-यज्ञ को देखने जाते हैं। राम के समीप ही जहाँ सीता की स्वर्ण-प्रतिमा रखी थी—दोनों कुमारों

को बैठने का आसन मिलता है और श्रीराम उन कुमारों से अपनी वीरगाथा सुनते हैं। राम और नागरिक सभी उन्हें पहचान जाते हैं। तब वाल्मीकि सीता के पातिव्रत्य और पूतत्व के साक्षी बनकर उन्हें पुनः स्वीकार करने का प्रस्ताव राम के समक्ष रखते हैं। सीता बुलायी जाती हैं। वे श्रीराम के सामने शपथपूर्वक अपने सतीत्व की पवित्रता व्यक्त करती हैं। उस समय सीता का हृदय ग्लानि से भर जाता है। वह पृथ्वी को पुकारती हैं। पृथ्वी तुरंत फट जाती है और सीता उसी में समा जाती हैं। सीता की इस गति से राम शोकातुर हो जाते हैं। समस्त राजपाट पुत्रों को सौंपकर राम पुरवासियों सहित अयोध्या से बाहर निकल जाते हैं। वहाँ स्वर्गीय रथ पर चढ़कर श्रीराम अदृश्य हो जाते हैं।

सोलहवाँ सर्ग

श्रीराम के बड़े बेटे के हिस्से में दक्षिण कोशल का राज पड़ा था, वह कुशावती को अपनी राजधानी बनाकर वहीं रहने लगे। एक दिन स्वप्न में अयोध्यानगरी परित्यक्ता पत्नी का रूप धरकर कुश से अयोध्या के उजड़ जाने, उसके पतन की दुर्दशा बतलाकर अयोध्या पुनः लौट चलने की प्रार्थना करती है। कुश सेना, समाज सहित अयोध्या आ जाते हैं। नगर का पुनर्निर्माण होता है। सुघर अयोध्यापुरी में रहते हुए कुश हृदय खोलकर विहार करते है।

सत्रहवाँ, अठारहवाँ और उन्नीसवाँ सर्ग

सत्रहवें सर्ग तक अयोध्या और अयोध्या-नरेशों के वैभव-विलास की कोमलतम झाँकी है। अठारहवें और उन्नीसवें सर्ग में कुश के उत्तराधिकारियों की कामुक वृत्ति का नग्न चित्रण है। रघुवंश का अन्तिम राजा अग्निवर्ण निहायत विलासी और कामुक है। वह इक्ष्वाकु कुल की परंपरा से सर्वथा विपरीत वारागंनाओं के साथ विलास में ही डूबा रहता है। प्रजा और राज्य की उसे कोई चिन्ता नहीं। अन्त में वह क्षयरोग से मर जाता है। उसकी रानी गर्भवती थी। गर्भस्थ बालक के अधिकार की रक्षा करने के लिए रानी राजगद्दी पर बैठती है।

आधार : प्रयोजन

रघुवंश वाल्मीकीयरामायण के आधार पर लिखा गया है। कवि ने वाल्मीकि का स्मरण बड़ी श्रद्धा से किया है। वाल्मीकीयरामायण पर आधारित रघुवंश के कई स्थल रामायण से कहीं अधिक महत्त्व और गुरुत्व रखते हैं।

भारतीय संस्कृति और साहित्य में रामकथा तन और प्राण की भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखती है। रामकथा पर काव्य लिखकर कोई कवि यशस्वी बनने की इच्छा रखने की अपेक्षा अपनी काव्य-प्रतिभा को सफल, लेखनी को कृतार्थ और जीवन को सार्थक बनाने का प्रमुख प्रयोज़न रखता है। महाकवि कालिदास जैसे सारस्वत कवि की रघुवंश-रचना का मुख्य प्रयोजन यही हो सकता है। उनका भाव वाल्मीकिरचित रामायण के अभावों की पूर्ति के लिए न तो परिशिष्ट के रूप में रघुवंश को प्रस्तुत करना था और न संशोधन के रूप में और न उनका लक्ष्य अपने समकालिक किसी राजा—चाहे गुप्तकालीन चन्द्रगुप्त या ईसा पूर्व विक्रमादित्य का लक्षणात्मक चरितकाव्य लिखना था।

५. कुमारसंभव

सत्रह सर्गों के इस महाकाव्य के सम्बन्ध में विविध मतवाद प्रचलित हैं। कुछ लोग तो इसमें सत्रह सर्ग मानते हैं। कुछ का कहना है कि इसमें २२ सर्ग थे और कुछ लोग कहते हैं कि कालिदास ने आठ सर्ग तक ही लिखा है, शेष नौ सर्ग किसी और ने बाद में लिखकर जोड़ दिए हैं। मल्लिनाथ की संजीवनी टीका भी आठ सर्ग तक होने के कारण अंतिम मत को अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

कथावस्तु

ब्रह्मा से वरदान पाकर तारकासुर ने देवताओं को सताना शुरू कर दिया। त्रस्त देवतागण ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने शिव से पार्वती का विवाह करा देने की सलाह दी। देवताओं ने प्रयत्न करके शिव और पार्वती का विवाह करा दिया। भगवती पार्वती से एक पुत्र पैदा हुआ—स्वामिकार्तिकेय। तारकासुर के वध के लिए देवताओं ने स्वामिकार्तिकेय को अपना सेनानी बनाया। सेनापति स्वामिकार्तिकेय ने तारकासुर सहित असुरों का संहार किया।

इसी कथा का सार सर्गानुक्रम से इस प्रकार है—

प्रथम सर्ग

उत्तर दिशा में पृथ्वी का मानदण्ड बना हुआ देवतात्मा हिमालय है। नके एक शिखर कैलास पर शिव का निवास है। हिमालय के भीतरी भाग यक्ष, किन्नर और गन्धर्व रहते हैं। गिरिराज की सुन्दर रजतमयी गुफाओं में क यक्षिणियाँ, विद्याधरियाँ और देवयोनियाँ खेलती रहती हैं, विविध क्रीड़ा, तुक और विलास करती हैं। उधर शिव अपने कैलास में घोर समाधि लगाए हैं। अनेक देवबालाओं के साथ हिमगिरि की कन्या गौरी भी शिव की र्चना के लिए फूल चुनती है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन ाती है।

दूसरा सर्ग

इसी समय तारकासुर से सताये गए देवगण ब्रह्माजी के पास गए। ब्रह्मा ने हा–उसे तो मैं वरदान दे चुका हूँ, इसलिए उसके विरुद्ध मैं स्वयं कुछ न कर कूंगा। आप लोग कोशिश करके शिव का पार्वती से व्याह करा दीजिए। नसे जो पुत्र उत्पन्न होगा वही तारकासुर का वध करेगा।

तीसरा सर्ग

इन्द्र ने कामदेव को बुलाकर समाधिस्थ शिव के हृदय में पार्वती के प्रति ाकर्षण उत्पन्न कराने का भार सौंप दिया। अपनी पत्नी रति को साथ लेकर ामदेव हिमालय में गया। वसन्त के सहकार से उसने सर्वप्रथम शिव के हृदय 'काम' उत्पन्न करने की चेष्टा की। भगवान् शिव उस समय योगस्थ होकर ह्मानन्द का अनुभव कर रहे थे। धीरे-धीरे उनकी समाधि टूटने लगी। माधिभग हो जाने के बाद उनके गण नन्दी ने शिवजी का आदेश पाकर ार्वती को गुफा के अन्दर जाने दिया।

पार्वती ने शिव के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित कर जब कमलगट्टा की माला हनाने के लिए हाथ बढ़ाया तो उसी के साथ कामदेव ने धनुष पर सम्मोहन ाण चढ़ाया। शिवजी की चित्तवृत्ति क्षणभर के लिए डाँवाडोल हो गई, किन्तु ुरन्त सँभलकर उन्होंने अपनी वृत्तियों को संयमित किया और वह इस प्रकार े चित्तवृत्ति-विक्षोभ का कारण ढूँढ़ने लगे। सामने देखा तो धनुष पर बाण

चढ़ाए हुए कामदेव दिखायी पड़ा। शिव ने क्रोध से जलते हुए अपना ती नेत्र खोल दिया, उससे भयंकर ज्वाला निकली जिससे कामदेव तत्काल हो गया।

चौथा सर्ग

अपने पति कामदेव को भस्म हुआ देखकर उसकी पत्नी विलख-विलख रोने लगी। जब काम-सहचर वसन्त उसे सान्त्वना देने लगा तो रति का श असीम हो गया। वह देहत्याग करने के लिए तैयार हो गई तब आकाशवा हुई कि शिवजी पार्वती का पाणिग्रहण अवश्य करेंगे, उस समय वह काम प्राणदान देंगे। इसलिए तुम धीरज धरो।

पाँचवाँ सर्ग

मदन-दहन का काण्ड देखकर पार्वती को बड़ी निराशा हुई। शिवजी को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए घोर तपश्चर्या में लग गई उनकी एकनिष्ठ साधना से प्रसन्न होकर शिवजी ब्रह्मचारी का रूप धारण पार्वती के पास आए। अतिथि ब्रह्मचारी की अर्चना तपस्या से क्षीणकाय पार्व ने की। ब्रह्मचारी ने उनकी कष्टसाध्य तपस्या का कारण पूछा। पार्वती ने कुछ उत्तर नहीं दिया किन्तु उनकी सखी ने बताया कि शिवजी को पति के र में प्राप्त करने के लिए इनकी यह कठिन साधना है।

यह सुनकर ब्रह्मचारी ने शिव की खूब निन्दा की। उनके विकट रू श्मशानवास, दरिद्रता, कुरूपता का वर्णन करते हुए ब्रह्मचारी ने पार्वती अपना संकल्प छोड़ देने की सलाह दी। ब्रह्मचारी की बातें सुनकर पार्वती क्रु होकर उसे फटकारने लगीं और अपने दृढ़ संकल्प पर अटल रहने का निश्च दुहराया। ब्रह्मचारी फिर कुछ समझाना चाहते थे कि पार्वती वहाँ से उठक जाने लगीं तो शंकर ने अपना असली रूप प्रकट करते हुए कहा—देवि, तुम्हारी साधना से प्रसन्न होकर तुम्हारे अधीन हो गया हूँ।

छठा सर्ग

इसके बाद शिवजी ने अरुन्धती सहित सप्तर्षियों को गिरिराज के पा पार्वती की मँगनी के लिए भेजा। हिमालय ने अपनी पत्नी से सलाह कर सप्त र्षियों का प्रस्ताव स्वीकार कर पार्वती की सगाई शिव से कर दी।

सातवाँ सर्ग

शुभ मुहूर्त्त में शिव का पार्वती से विवाह हो गया। शिव अपने गणों और ताओं की बरात लेकर हिमालय के यहाँ पहुँचे। विवाहोत्सव बड़े धूमधाम से ाया गया।

आठवाँ सर्ग

पार्वती को विदा कराकर शिव कैलास में आये। वे चिरकाल तक दाम्पत्य-ख का उपभोग करते रहे।

नवाँ सर्ग

शिव और पार्वती जहाँ क्रीड़ारत थे, उसी स्थान पर इन्द्र ने अग्नि को बूतर बनाकर भेजा। पहले तो अग्नि की इस धृष्टता पर शिव क्रोधित हुए किन्तु अग्नि ने जब लोक-मंगल का प्रयोजन बताया तो प्रसन्न होकर उन्होंने पना वीर्य उसमें स्थापित किया। अग्नि जब वीर्य की ज्वाला सहन न कर सका तो इन्द्र के कहने पर उसने उसे स्वर्ग की गंगा में छोड़ दिया।

दसवाँ सर्ग

लेकिन गंगा भी उस वीर्य को धारण करने में जब असमर्थ रहीं तो उसने उसे स्नान के लिए आयी हुईं छह कृत्तिकाओं के शरीर में डाल दिया। षट्कृत्तिकाओं ने भी असमर्थ होकर उस वीर्य को वेतस् वन में छोड़ दिया।

ग्यारहवाँ सर्ग

उसी समय आकाश-मार्ग से जाते हुए शिव और पार्वती की दृष्टि वेतस्वन में पड़े हुए बालक पर पड़ी। वे उसे अपने ही वीर्य से उत्पन्न समझकर उठा लाए। केवल छह दिनों के अन्दर वह बालक बड़ा होकर शस्त्र-शास्त्र सभी विद्याओं में पारंगत हो गया। उसका नाम कुमार रखा गया।

बारहवाँ सर्ग

तब इन्द्रादि प्रमुख देवताओं की प्रार्थना पर शिव ने कुमार को देवसेना का सेनापति बनाकर स्वर्ग भेज दिया।

तेरहवाँ सर्ग

देवसेनानी कुमारस्कन्द ने तारकासुर पर आक्रमण किया।

चौदह सर्ग से सत्रह सर्ग तक

घनघोर देवासुर संग्राम छिड़ गया। अन्त में कुमार ने तारकासुर का व किया। स्वर्ग की देवियों ने हर्षोत्फुल्ल होकर कुमार पर पुष्पवृष्टि की! इ निष्कण्टक होकर स्वर्ग का राज्य करने लगा।

आधार : प्रयोजन

कुमार कार्तिकेय की कथा ब्रह्मवैवर्त, शिव और स्कन्द पुराण में मिलत है। दोनों पुराणों की कथावस्तु लेकर कालिदास ने विलक्षण काव्य कुमारसंभ की रचना की है। कला को कमनीय बनाने के लिए कालिदास ने पौराणि कथानक में यत्र-तत्र परिवर्तन भी किये हैं।

कालिदास का कुमारसंभव लिखने का एकमात्र प्रयोजन विवाह, प्रे की पवित्रता और आध्यात्मिकता सिद्ध करना प्रतीत होता है। बाह्य-सौन्द और आकर्षण से कहीं अधिक आन्तरिक सौन्दर्य और आकर्षण होता है दाम्पत्य-जीवन संयमी और लोकमंगलकारी होना चाहिए—यही कुमारसंभव क अभिप्राय है।

६. मेघदूत

कथावस्तु

मन्दाक्रान्ता छन्द में लिखा गया मेघदूत विश्वसाहित्य में सर्वश्रेष्ठ मधु गीतिकाव्य माना जाता है। पूर्वमेघ और उत्तरमेघ—इन दो भागों में विभक्त एक यक्ष की विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति मेघदूत में हैं। दोनों भागों का कथा सार इस प्रकार है—

अलकाधिप कुबेर के यक्ष अनुचर ने अपना उत्तरदायित्व वहन करने में प्रमाद किया। क्रुद्ध कुबेर ने उसे एक वर्ष के निर्वासन की सजा दी। शापग्रस्त यक्ष अपनी नवविवाहिता पत्नी से वियुक्त होकर अलका को छोड़कर भगवती सीता के स्नान, अवगाहन से पवित्र जलवाले रामगिरि नाम के पर्वत पर जाकर रहने लगा।

आषाढ़ महीना आया, नूतन जलधर उमड़ने-घुमड़ने लगे। वर्षागम के मेघों को देखकर यक्ष की प्रिया-विरह-व्यथा घनीभूत होकर उमर आयी। उसने

अपने ही समान पत्नी की भी मनोदशा सोचकर मेघ को दूत बनाकर प्रियतमा के पास संदेश भेजने का निश्चय किया।

कामातुर होने से यक्ष यह न समझ सका कि धुआँ, आग, पानी और हवा आदि तत्त्वों से बना हुआ अचेतन मेघ कैसे सन्देशवाहक हो सकता है। उसने कटसरैया के नये फूलों से पहले मेघ को अर्घ्य दिया, फिर उसको फुसलाते हुए उसने अलकापुरी जाने का मार्ग बताया। रामगिरि से अलकापुरी के बीच के देश, नगर, ग्राम, वन, पर्वत और नदियों का यक्ष ने परिचय दिया।

इसके बाद वह अलकापुरी का मनमोहक वर्णन करता है। यक्ष ने मेघ को अपने घर का परिचय देते हुए बताया कि कुबेर के राजमहल के उत्तर मेरा घर है, जिसमें इन्द्रधनुष के समान रमणीक बन्दनवार बँधे हैं। मेरे घर में एक उद्यान है जिसमें मेरी पत्नी के हाथ से लगाया हुआ, पोसा हुआ, पुष्पभार से बोझिल मन्दार का वृक्ष है। उसके पास एक वापी है। वापी के तट पर सुवर्ण कदली-कुंजवेष्टित क्रीड़ाशैल है। वहीं माधवीमंडप के समीप अशोक और वकुल वृक्ष हैं। इन वृक्षों के बीच सुवर्ण स्तम्भ पर एक स्फटिक शिला है, उस पर बैठकर मेरी प्रिया नित्य सायंकाल कंकण क्वणित करतल शब्द से मयूर को नृत्य-कला सिखाती है।

यक्ष मेघ से कहता है कि जब तुम मेरे घर पहुँचोगे, उस समय मेरी प्रिया देवाराधन करती हुई तुम्हें दिखायी पड़ेगी या विरह-व्यथा से कृश मेरे शरीर अनुमान लगाकर मेरा भावचित्र चित्रित कर रही होगी या पिंजड़े में बैठी हुई ारिका से पूछ रही होगी कि कभी तुझे अपने स्वामी की याद आती है।

वह विरहिणी आँसुओं से तरबतर वीणा के तारों को बार-बार पोंछती हुई स्व -लहरी भूल जाती होगी। अथवा भूमि पर बिछे हुए फूलों को गिन-गिन कर मेरी शाप-अवधि की गिनती करती होगी।

इस तरह वह यक्ष अपनी प्रिया का विस्तृत परिचय देने के बाद मेघ से जो संदेश कहता है, वह भी बहुत मार्मिक और व्यापक है। यक्ष ने सन्देश में कहा कि प्रिये, स्वप्न में तुझे देखकर तेरे आलिंगन के लिए हाथ फैला देता हूँ। मेरी यह कातर, करुण अवस्था देखकर देववृक्षों के पल्लवों पर मोती के समान

अश्रु-बिन्दु टपक पड़ते हैं। मैं बड़े विवेक और धैर्य से तुम्हारा वियोग-दुः
सहन कर रहा हूँ। प्रिये, तुम भी मेरी तरह सहन करना।

अन्त में मेघ के प्रति मंगल-कामना करते हुए यक्ष कहता है—'जलद
सौहार्द्र से अथवा मुझे वियुक्त मानकर मुझ पर करुण-कृपा करने के कारण
अनुचित प्रार्थना करनेवाले का मनोरथ पूरा करो। बरसने से विशेष कान्ति
धारण करते हुए यथेच्छित देशों में विचरण करो। क्षणमात्र के लिए भी मेरी
तरह तुम्हारी पत्नी विद्युत् से तुम्हारा वियोग न हो।'[1]

१. अन्य नाटकों, काव्यों की भाँति मेघदूत का कथानक भी पौराणिक है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में हेममाली यक्ष की मूल कथा इस प्रकार है—

अलकाधिपतिर्नाम्ना कुबेरः शिवपूजकः,
तस्यासीत्पुष्पवटुको हेममालीति नामतः।
तस्य पत्नी सुरूपा च विशालाक्षीति नामतः,
स तस्यां स्नेहसंयुक्तः कामपाशवशंगतः।
मानसात् पुष्पनिचयं आनीय स्वगृहेस्थितः,
पत्नीप्रेमसमायुक्तो न कुबेरालयं गतः।
कुबेरो देवसदने करोति शिवपूजनं,
मध्याह्नसमये राजन् पुष्पाणि प्रसमीक्षते॥
हेममाली स्वभवने रमते कान्तया सह,
यक्षराट् प्रत्युवाचाथ बेलातिक्रमकोपतः।
कस्मान्नायाति हे यक्षाः हेममाली दुरात्मवान्,
निर्णयः क्रियतामस्य प्रत्युवाच पुनः पुनः॥
वनिता कामुको गेहे रमते स्वेच्छया नृप,
तेषां वाक्यं समाकर्ण्य कुबेरः क्रोधपूरितः।
आह्वयामास तं तूर्णं वटुकं हेममालिनम्,
ज्ञात्वा कालात्ययं सोऽपि भयव्याकुललोचनः।
आजगाम नमस्कृत्य कुबेरस्याग्रतः स्थितः,
तं दृष्ट्वा धनदः क्रुद्धो रोषसंरक्तलोचनः।

आधार : प्रयोजन

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार मेघदूत के यक्ष का नाम हेममाली था और वह कुबेर का पुष्पवटु था। उसकी परमसुन्दरी नवयौवना स्त्री का नाम विशालाक्षी था, जिसके सौन्दर्य पर रीझा हुआ हेममाली मानसरोवर से कमल लाकर कुबेर के यहाँ जाने के बजाय अपने घर पहुँचकर प्रिया के राग में लीन हो गया। पूजा-गृह में बैठे हुए कुबेर फूलों की प्रतीक्षा कर रहे थे, जब अधिक विलंब हो गया तो उन्होंने अन्य यक्षों को हेममाली का पता लगाने के लिए उसके घर भेजा।

यक्षों ने बताया कि वह घर में बैठा पत्नी से प्रेमालाप कर रहा है। यह सुनते ही क्रुद्ध कुबेर ने उसे पकड़ मँगवाया और कोढ़ी हो जाने तथा अलकापुरी से निम्नलोक में पत्नी से वियुक्त रहने का शाप दे दिया।

इसी पौराणिक कथा में कला की दृष्टि से कालिदास ने कुछ परिवर्तन, परिवर्द्धन करके मेघदूत की रचना की है। ब्रह्मवैवर्त पुराण की कथा ही मेघदूत का आधार है।

मेघदूत के पढ़ने से प्रतीत होता है कि योग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति रुचि और विधि तथा प्रकृति और संस्कृति की समन्वय-भावना को प्रतिष्ठापित करना इस गीति-काव्य की रचना का प्रयोजन हो सकता है।

ऋतुसंहार

ऋतुसंहार प्रकृति के साहचर्य से बँधे हुए कालिदास के मानस का प्रतिबिम्ब है। छह सर्गों के इस काव्य में क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसंत—इन छह ऋतुओं का मोहक वर्णन है। यह शुद्ध प्राकृतिक काव्य

प्रत्युवाच रुषाविष्टः कोपाद्विस्फुरिताधरः,
रे पाप ! दुष्ट दुर्वृत्त कृतवान् देवहेलनम्।
अतो भवश्चित्रयुक्तः वियुक्तः कान्तया सदा,
अस्मात्स्थानादपध्वस्तो गच्छस्थानमथाधमम्।
इत्युक्ते वचने तेन तस्मात्स्थानात्पपात सः,
महादुःखाभिभूतश्च कुष्ठपीड़ित विग्रहः ॥

है। प्रकृति का मोहक और यथार्थ वर्णन करना ही कवि का अभीष्ट रहा है। ऋतुओं के परिवर्तन के साथ रसिक नागरकों के रहन-सहन और चित्तवृत्तियों के परिवर्तन काव्य में सामञ्जस्य उत्पन्न करते हैं।

कोई भी काव्य प्रकृति-वर्णन के बिना नीरस और निस्तेज होता है। कवि वही हो सकता है जिसकी मानस प्रकृति से तादात्म्य संबन्ध रखता हो। कालिदास के सभी काव्यों में प्रकृति-नटी की मोहक थिरकन है, किन्तु ऋतुसंहार में वह साङ्ग, साकार उतरी है।

प्रकृति और संस्कृति का समन्वय व्यक्त करना ऋतुसंहार लिखने का प्रयोजन हो सकता है। दृश्यमान प्रकृति स्वयं इस कविता का आधार बनी हुई है और वैदिकयुग से लगाकर अब तक लोकगीतों में प्रचलित बारहमासा ऋतु-वर्णन-संबंधी काव्य-परंपरा की प्राचीनता प्रकट करते हैं। हो सकता है, कालिदास ने लोककाव्यों से प्रेरणा ग्रहण कर ऋतुसंहार जैसा ऋतु-वर्णनप्रधान काव्य लिखा हो।

आधार और प्रयोजन के प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त

कालिदास की रचनाओं के आधार और प्रयोजन संबन्धी दो प्रकार के सिद्धान्त अब तक स्थिर किये जा चुके हैं। ये सिद्धान्त मुख्यतया कालिदास के स्थान और काल पर आधारित हैं। स्थान और काल के विवाद की पृष्ठभूमि में दो प्रकार के सिद्धान्त प्रमुख रूप से पनपे हैं। एक तो ईसा पूर्व ५७ वर्ष विक्रमादित्य का समर्थन करता है और दूसरा गुप्तकालीन चन्द्रगुप्त द्वितीय का समर्थन करता है। इन दो सिद्धान्तों की स्थापना के लिए लगभग एक शती से समीक्षकों का बुद्धि-युद्ध निरन्तर चल रहा है। इस बौद्धिक युद्ध का परिणाम यह हुआ कि अब तक कालिदास का अध्ययन निष्पक्ष और शास्त्रीय ढङ्ग से समुचित न हो सका। प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण समीक्षाओं में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

कालिदास के विशाल अनुशीलन साहित्य में वासुदेव विष्णु मिराशी और भगवतशरण उपाध्याय—इन दो विद्वानों के अनुशीलन अतिशय गम्भीर और हर पहलू को स्पर्श करनेवाले हैं, किन्तु स्थान-स्थान पर कालिदास को गुप्तकालीन ठहराने का लोभ रेशम में टाट का पेबन्द-सा लगता है। कालिदास के सभी ग्रन्थों में कालिदास की आत्मा के बजाय इन विद्वानों को सर्वत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय,

मारगुप्त और प्रभावती ही नज़र आते हैं। कालिदास को गुप्तकालीन चारण द्ध करनेवाली ऐसो अर्थवादीसमोक्षा कालिदास के काव्य के उद्देश्यों पर हरा काला परदा डाल देती है।

अधिकांश अनुशीलन कर्त्ताओं ने मेघदूत को काल्पनिक काव्य मानकर कवि-ल्पना को गहरी दाद दी है। जब कि मेघदूत भी पौराणिक कथा पर आधा-रत काव्य है। किन्तु डा० वासुदेवशरण अग्रवाल मुरारेस्तृतीय: पन्था: का नुसरण करते हैं। इधर कुछ दिनों से वे हर कथा, काव्य में वैदिक तत्त्व खोजते हैं। सभी में आध्यात्मिक, अशरीरी भाव खोजते हैं। उनकी दृष्टि में मेघदूत भी आध्यात्मिक काव्य है। मेघ की भाँति यक्ष, यक्षप्रिया, कुबेर आदि सभी पात्र और भौगोलिक स्थान अतीन्द्रिय जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थ हैं।

कालिदास स्वयं मानव थे, वे कवि के रूप में पृथिवीपुत्र थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसमें अपने देश की धरती की ऐसी आवाज़ है जो अपार्थिव को भी पार्थिव रूप प्रदान करती है।



अध्याय : ५

कालिदास की काव्य-चेतना के उपादा

ललितकलाओं के अन्तर्गत काव्य एक प्रमुख कला मानी जाती है अं सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में काव्यकला, संगीतकला, चित्रकला आदि निखर क प्रभावपूर्ण बना करती हैं। जहाँ पर सौन्दर्य का 'सम' विद्यमान रहता वहीं विषय और वस्तु की प्रभावकता बढ़ती है। सौन्दर्य के रेशमी धागे समस्त ललितकलाएँ पिरोयी रहती हैं, इसलिए उनका एक दूसरे से अन्योन्य श्रय सम्बन्ध बना रहता है। इसलिए कहा जा सकता है कि काव्य का उन्मेष काव्य का उत्स या काव्य की उपलब्धि सौन्दर्य है। सौन्दर्य के सहकार से ह काव्य की चेतना उभरती है। दूसरे शब्दों में, काव्य की चेतना सौन्द ही है।

कदाचित् इसी भावना से प्राच्य, पाश्चात्त्य विद्वानों ने कालिदास क सौन्दर्य का सर्जक कवि माना है, किन्तु यह एकांगी और पाश्चात्त्य दृष्टि कोण प्रतीत होता है। सत्यं शिवं सुन्दरं का प्रचलन, प्रयोग भारत के लि परंपरागत उत्तराधिकार-प्राप्त नहीं है। भारतीय संस्कृति और साहित्य की मर्यादा और प्रतिष्ठा, 'शिवमयता' है। हमारे देश ने किसी भी क्षेत्र म अशिव को बरदाश्त नहीं किया है। साहित्य का चरम लक्ष्य, चरम दृष्टिकोण 'शिव' की उपलब्धि है। शिव एक सार्वजनीन, सार्वकालिक, सार्वभौम सत्ता है। इसे न तो केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में बाँधा जा सकता है और न आध्यात्मिक भौतिक जीवन को जोड़ने वाली कड़ी कहा जा सकता है शिव सृष्टि के अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में व्याप्त एक ओजस्वी तत्त्व है, जिसे प्राप्त करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। इस तत्त्व की उपलब्धि की चेष्टा ही चेतना है। कालिदास के काव्यों की चेतना शिव है, सौन्दर्य नहीं। इसी चेतना के बल पर कालिदास का साहित्य समस्त विश्व के प्राचीन और नवीन कवियों में अपना शीर्षस्थान रखता है।

शिव का व्यापक स्वरूप

शिव के व्यापक रूप का निर्धारण विचार नहीं कर सकता है। वह केवल शिव की ओर संकेत कर सकता है। शिव के इस विराट् और व्यापक रूप में सत्य और सुन्दर समाहित हैं। हाँ, यह कहा जा सकता है कि अन्तिम तत्त्व की पूर्णता के सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीन पक्ष हैं।

सौन्दर्य अनन्त प्रसुप्त कामनाओं को जगाने वाली चेतना की एक समुज्ज्वल देन है। इसलिए सौन्दर्य को शाश्वत आनन्द माना जाता है। महाकवि माघ ने सौन्दर्य को क्षण-क्षण में नवीन प्रतीत होने वाला कहा है।[1] कालिदास की दृष्टि नवीनता को अनन्तहीन अभिलाषा की परिचायिका मानती है।[2] भारतीय दृष्टि अचानक आकृष्ट या अभिभूत करने वाली हर वस्तु को सुन्दर नहीं मानती है। इस सिद्धांत से काव्यगत सौन्दर्य बाह्य तथा आभ्यन्तर सन्तुलन से उत्पन्न होता है, इसलिए वह काव्य ग्राह्य बनता है।[3] कालिदास सौन्दर्य की कल्पना बाह्य अवयवों के घटित अनुपात के साथ आन्तरिक उदात्तता की समग्रता में की है। कुमारसंभव की पार्वती की रचना उपमानों के उपादान से उन्होंने की है। उनको विधाता ने बड़े प्रयत्न से गढ़ा है। उनका अंग-विन्यास आनुपातिक ढंग से हुआ है। कुमारसंभव की पार्वती की सुन्दरता में कवि ने समग्रता को देखा है।[4] सरस्वती को अमूर्त रूप में चित्रित

---

१. क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः

—शिशुपालवध

२. प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता

३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।

एव

सौन्दर्यमलङ्कारः —काव्यालङ्कार

४. सर्वोपमा द्रव्यसमुच्चयेन

यथाप्रदेशं विनिवेशितेन

सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्ना—

देकस्थसौन्दर्य दिदृक्षयेव।—कुमारसंभव

करते हुए श्रीहर्ष ने भावरूप को सार्थक सिद्ध किया है। भौतिकता को तनिक भी स्पर्श नहीं होने दिया है।[1] वर्डस्वर्थ ने 'लूसी' को आकाश की एकाकिनी तारिका-सी सुन्दर कहकर उसे भावात्मक बताया है। टाल्स्टाय ने सौन्दर्य को कला का लक्ष्य मानते हुए कहा है कि सौन्दर्य की सबसे बड़ी पहचान उसका आनन्ददायक होना है।

प्राच्य-पाश्चात्य महाकवियों ने शिव और सुन्दर में एकता के दर्शन किये हैं। कालिदास सुन्दर को शिवं से भिन्न न मानकर दोनों में अभेद भाव मानते हैं।[2] टाल्स्टाय ने वामगार्टेन का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'तार्किक ज्ञान का लक्ष्य सत्य है और रागात्मक ज्ञान का लक्ष्य सौन्दर्य है। इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय परंब्रह्म सौन्दर्य है। तर्क द्वारा ज्ञेय ब्रह्म सत्य है और नैतिक कल्पना द्वारा गम्य ब्रह्म शिव है। वामगार्टेन के संबन्धात्मक सौन्दर्य के सिद्धान्त को कवि सुमित्रानन्दन पंत ने भी स्वीकार किया है।[3] कालिदास ने संभवत: सर्वप्रथम अध्यात्म दर्शन को गेय और आनन्दी बनाने का श्रेय प्राप्त किया है। उनके अनुकरण पर काव्य में शिवमयता लाने का प्रयत्न गोस्वामी तुलसीदास, अरविन्द, रवीन्द्र, प्रसाद, पंत ने किया है।

राजतंत्र के युग में उत्पन्न और राजाश्रय-प्राप्त कवि कालिदास को सुख-सुविधाओं का कवि नहीं कहा जा सकता है। उनकी काव्य-चेतना सदा सर्वत्र

---

१. मध्येसभं साऽवततार बाला
　　गान्धर्वविद्याधरकण्ठमाला
　त्रयीमयोभूत-बली-विभंगा
　　साहित्यनिर्वर्तित वृक्तरंगा। —नैषधीयचरित

२. यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
　　न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।—कुमारसंभव

३. वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
　　हृदय में बनता प्रणय अपार
　लोचनों में लावण्य अनूप
　　लोक सेवा में शिव अविकार।

म् की ओर मुखरित रही है। उनकी शिव-भावना किसी वस्तु या विषय का स्कार न कर, उसकी अवहेलना न कर उसका निखरा हुआ श्रेयांसि रूप-तुत करती है। अभिज्ञान शाकुन्तल, कुमारसंभव, मेघदूत और रघुवंश लिदास की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ मानी जाती हैं। इन चारों ग्रंथों में कालिदास जीवन की सिद्धि, सफलता का पथ, तप बतलाया है—विलास नहीं। किन्तु गार का तिरस्कार नहीं किया, क्योंकि शिव केवल 'राम' के ही प्रतीक हीं हैं बल्कि समग्रता के प्रतीक हैं।

शिव में पालक और संहारक दोनों शक्तियाँ रहती हैं। शिव बनने के ए शव की साधना करनी पड़ती है। शिव अपने साधक के प्रति कठोर होते । इसीलिए वे विरूपाक्ष और त्रिलोचन हैं। कल्याण साधक, कल्याणमय शव के तीसरे नेत्र में जैसे दाहक शक्ति रहती है उसी प्रकार शमप्रधान तपोधन ऋषियों में दाहात्मक शक्ति छिपी रहती है—लिखकर कालिदास ने अपनी शिव दृष्टि का शिवं और सुन्दरं की एकता का स्पष्ट परिचय दिया है।[१]

शिव विवेक है। अविवेक को दूर करने के लिए, ध्वस्त और निरस्त करने के लिए उसका तृतीय नेत्र उपयोगी है। इस दृष्टि से शिव की विरूपाक्षता अपना महत्त्व रखती है और काव्य में शिव दृष्टि की विशेषता विरूपाक्षता से प्रकट होती है। कालिदास ने अपनी इस शिव भावना-शिव दृष्टि का निर्वाह अपने काव्य में सर्वत्र किया है। वह सागर को जहाँ सुन्दर बतलाता है वहीं उसे भयानक भी कहता है।[२] रजोगुणी बनकर रघु नरसंहार करता हुआ एक ओर दिग्विजय करता है, दूसरी ओर अपनी अशेष सम्पत्ति विश्वजित् यज्ञ करके दान दे देता है। आसमुद्र पर्यन्त पृथ्वी का स्वामी वह केवल मृण्मय पात्र रखकर परमहंस तपस्वियों का-सा जीवन व्यतीत करता है। और अन्त में योग-बल द्वारा शरीर त्याग करता है। ऐश्वर्य में मद, मत्सर, अहंकार आदि विकार भी उत्पन्न हो जाया करते हैं किन्तु त्यागी, तपस्वी निर्विकार होते हैं। यह बात कालिदास ने कण्व ऋषि के शिष्यों द्वारा उस समय कहलायी है जब दुष्यन्त

---

१. शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्तितेजः। —अ० शा० २।७
२. अधृष्यश्चोपगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः। —रघुवंश, प्रथम सर्ग

शकुन्तला को स्वीकार करने से इनकार करते हैं, शकुन्तला के साथ किये ग गान्धर्व विवाह को भूल जाते हैं ।[1]

पार्वती, सीता और शकुन्तला कालिदास की ऐसी सौदर्य सृष्टि है, ज सौन्दर्य को निवेदनीय बनाती है । अपनी मनोकामना की सिद्धि के लिए पार्वत तपस्या करती हैं, संयम, नियमपूर्वक कठार व्रत धारण करती हैं, फिर भ जब सिद्धि नहीं मिलती तो निराहार निर्जल व्रत रखकर शीत, वात, आतप वर्षा की परवाह न कर घोर तपस्या में लीन हो जाती हैं । उनकी इस कठो साधना में सर्वोपरि शिव-भावना है, शिव दृष्टि है और उससे सौन्दर्य की सृष्टि होती है । पार्वती चित्तवृत्तियों का निरोध करके योगाभ्यास द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि करती हैं तो शकुन्तला चित्तवृत्तियों को द्रवित बनाकर और चित्त का बिस्तार करके लताओं, विटपों, वन-जन्तुओं का प्यार-दुलार पाकर उनसे आत्मीय सम्बन्ध जोड़कर सौन्दर्य को कुसुमादपि कोमल और सुघर बनाती है । फिर चित्तवृत्तियों का परिष्कार करने के लिए पति-वियोग का दुर्द्धर्ष व्रत धारण करती है, सामाजिक कलंक और अवमानना को वरण करती है । इस दुर्दमनीय व्रत को अखंडित और निर्विघ्न बनाने के लिए तपस्या, साधना और योग की छाया में पली हुई शकुन्तला ऋषि मारीचि के तपोवन में आश्रय ग्रहण करती है । और शिवं को सत्यं तथा सत्यं को सुन्दरं बनाती है तो रघुवंश की सीता पुत्र-प्रसव करने के बाद यह अदम्य, निष्कलंक प्रतिज्ञा करती है कि 'मैं यह संकल्प लेकर तप करूँगी कि जन्म-जन्मान्तर में राम ही पति मिलें और उनसे कभी मेरा वियोग न हो ।' सीता के इस संकल्प ने सौन्दर्य के सर्वोत्तम धर्म 'सौभाग्य' को शाश्वत और निर्विकल्प बनाया है ।

कुमारसंभव में पार्वती के चरित्र को सर्वोपरि शिव बनाने में कालिदास की प्रतिभा अत्यधिक सफल हुई है । जिस प्रकार शरद ऋतु के आगमन के साथ ही हंस मानसरोवर से आ जाते हैं उसी प्रकार पार्वती के प्रादुर्भाव के साथ ही सभी विद्याएँ आ-आकर उसमें आविर्भूत हो जाती हैं ।[2] यहाँ पर पार्वती का

---

१. मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु —अ० शा० ५।१८

२. तां हंसमालाः शरदीवगगां

महौषधिनक्तमिवात्मभासः

न्दर्य शरद् ऋतु का सौन्दर्य मानकर हंसों को विद्याओं का प्रतीक माना गया । आदि से अन्त तक पार्वती के सौन्दर्य वर्णन में किसी-न-किसी बहाने शरद् ऋतु को ही कालिदास ने आलम्बन बनाया है। सौन्दर्य की यह शिवभावना पार्वती के विवाह-काल में अधिक प्रस्फुटित हुई है। विवाह की वेदी पर जाने के लिए जब पार्वती को तैयार किया जा रहा है, तब कालिदास ने हिमतनया की उपमा जलाभिषेक के बाद निखरी हुई काश के फूलों से हँसती हुई धरती से दी है।[1] और विवाह हो जाने के बाद नववधू पार्वती की उपमा क्षीरसागर की उस सफेन पुञ्जा बेला से दी है जो शारदीय पूर्णिमा की चन्द्रिका को पाकर पुलक उठती है।[2]

शिव-भावना एकांगी और निजी नहीं होती, उसमें बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय से ऊपर चराचर जगत् के कल्याण की कामना निहित रहती है। धरती और क्षीरसागर-बेला की उपमा देकर कालिदास ने उस परमानन्द की ओर संकेत किया है, जिसे समस्त जगत् समान रूप से पाने का अधिकारी है। पार्वती में अपने शिव को समस्त संसार को वितरित करने, अर्पित करने की भावना निहित है।

इसके विपरीत कालिदास ने शकुन्तला में शरद् का नहीं, वसन्त का सौन्दर्य देखा है जिसकी सुन्दरता का परिणाम ग्रीष्म का फलभार है। शकुन्तला ने

स्थिरोपदेशामुपदेशकाले
प्रापेदिरे प्राक्तन जन्म विद्याः। —कु० सं० १।३०

१. सा मंगलस्नानविशुद्धगात्री
गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका
प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे। —कु० सं० ७।११

२. क्षीरोदवेलेव सफेन पुञ्जा
पर्याप्तचन्द्रेव शरत् त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा,
भूया बभौ दर्पणमादधाना। —कु० सं० ७।२६

कठोर तपस्या, असह्य विरह-वेदना, अवमानना प्राप्त करके अपनी साध द्वारा जिस पुत्र भरत को पाया, वह ग्रीष्म के समान प्रखर प्रतापी निकल। कालिदास को शम का परिणाम दमन स्वीकार न होने से वह बहुत बारीकी अपने भावों को व्यंग्य की शैली में व्यक्त करता है।

कालिदास की काव्य-चेतना का सर्वोत्तम निदर्शन मेघदूत है। इस आद्योपान्त शिव का सत्य और शिव का सुन्दर रूप निहित है। है तो यह विर काव्य, किन्तु इसमें व्यापक, विभु, कूटस्थ शिव का ऐसा संयोजन है कि विर में मिलन का लक्ष्य लक्षित होता है। देश की भौगोलिक एकता के चित्र प्राकृतिक और सांस्कृतिक चित्र, दिव्य शक्तियों के साथ मानवी इच्छाओं चित्र एक साथ बड़ी निपुणता से अभिव्यक्त किए गये हैं। देश की, देव की देह की अम्लान त्रिवेणी व्यापक भावभूमि पर प्रवाहित की गई है। शिव विष्णु और राम की एकता, एकरूपता मेघदूत में सिद्ध की गई है। जब यक्ष मेघ को सन्देश देकर विदा देने लगता है तो वह उस मेघ को गोपालकृष्ण के रूप में देखता है। उज्जयिनी की भौतिक विभूति का वर्णन और कैलास का अपार्थिव वर्णन पार्थिव और अपार्थिव का सहज मिलन सिद्ध करता है उज्जयिनी में शिवमृत्युञ्जय नर्तन करते हैं तो कैलास में उनका सदाशिव नर्तन होता है।

यक्ष-यक्षिणी का विरह-शोक पार्थिव और मानवी होते हुए विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी बन जाता है। कालिदास की काव्य-चेतना चित्तवृत्तियों के विस्तार करने में बहुत अधिक सफल होती हुई जान पड़ती है। प्रियतमा के मिलन की अमिट आशा रखकर यक्ष प्राणधारण कर दृढ़ संकल्प व्यक्त करता है, साथ ही तड़प-तड़प कर अपनी दारुण विरह-व्यथा भी व्यक्त करता है। इस चित्र से चित्तवृत्तियों की सिद्धि का आभास मिलता है।

शिव चेतन-अचेतन सभी को प्रभावित करता है। सभी का प्राणदस्पर्शी बनता है। मेघ को दूत बनाकर कालिदास ने चेतन और अचेतन का संबन्ध जोड़ा है। मेघदूत में मेघ को कामरूप पुरुष मानकर कालिदास ने शिवभावना का आद्यन्त विस्तार किया है। मेघदूत में यक्ष-यक्षिणी के विरह और मिलन के माध्यम से कवि ने देश के विस्तृत, बहुचर्चित, बहुभाषी भूखण्डों को ही जोड़ने

ा प्रयत्न नहीं किया है बल्कि धरती को आकाश से, वन को उपवन से, नदी ा सरोवर से, पर्वत को विटप से और चर को अचर से, जनपद को नगर जोड़कर अपनी व्यापक काव्य-चेतना का परिचय दिया है। इस प्रकार ालिदास के काव्य में उसकी काव्य-चेतना शिवं के व्यापक रूप में मुखरित ई है।

अन्तः प्रकृति का विश्लेषण

साहित्य के आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। कालिदास शृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकृत हैं और रसों में सर्वश्रेष्ठ शृंगार रस माना जाता है। शृंगार का स्थायी भाव रति है। कामशास्त्रकार वात्स्यायन ने रति को हृदय की कोमल वृत्ति बतलाया है। संस्कृत के साहित्याचार्यों ने भी हृदय की आन्तरिक वृत्तियों की विभिन्न अनुभूतियों को ही रस बतलाया है। इसीलिए सात्त्विक, संचारी, स्थायी आदि भावों की प्रधानता रस में निहित मानी गयी है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाये कि काव्य वही है, जिसमें अन्तः प्रकृति का चित्रण हो तो अनुपयुक्त न होगा। अन्तः प्रकृति का चित्रण मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही हुआ करता है। जिस काव्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सहजभाव से उभरता है, वही काव्य सरस बनता है और उसका कवि रससिद्ध कहा जाता है। कालिदास के काव्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं अन्तः प्रकृति का चित्रण काव्य की आत्मा के दो पहलू बने हुए हैं।

कालिदास मनोभावों के सूक्ष्म पारखी थे। इंगितों, चेष्टाओं द्वारा आन्तरिक भावों को पहचानने, परखने की गजब की शक्ति उनमें विद्यमान थी। स्वयंवर के समय राजकुमारी इन्दुमती तरुण अज को देखते ही उस पर आसक्त हो जाती है, किन्तु लाजवश वह अपना अनुराग प्रकट न कर सकी। उसका प्रणय, अनुराग जबर्दस्ती रोमांच के द्वारा शरीर से फूट पड़ा, छिपाये न छिप सका।[1] प्रणय को प्रकट करने या जगाने में दृष्टिनिक्षेप, आँखों का अनुभव एक

---

१. सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं,
शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण सगात्रयष्टिं,
भित्त्वा निरक्रामदरालकेश्याः। —रघु० ६।८१

मुख्य कारण और साधन होता है। प्रणयी के शरीर और हृदय में उस समय जो पुलक भर जाता है वही रति का सात्त्विक भाव माना जाता है। प्रसिद्ध है कि अनुराग की भाषा मौन होती है। समझदार अनुरागी-प्रणयी जोड़े इशारे द्वारा एक दूसरे के मनोभावों को समझ लेते हैं। स्त्रियों के गूढ़ प्रणय भावों को पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बहुत जल्दी भाँप लेती हैं। अज को देखते ही इन्दुमती जब चुपके से उस पर आत्म-समर्पण कर देती है तो उसे स्वयंवर-सभा में बैठे राजागण नहीं समझ पाये, किन्तु इन्दुमती की सहचरी सुनन्दा तुरन्त भाँप लेती है और चुटकी लेती हुई कहती है कि 'आगे बढ़ो राजकुमारी', इन्दुमती को उसकी यह बात खल जाती है, वह व्यक्त रूप में कुछ कह तो सकती नहीं इसलिए वक्र भृकुटियों से उसने सुनन्दा की ओर देखा।[1] उसकी इस तिरछी चितवन में ही सारा रहस्य छिपा हुआ था, जिसे सुनन्दा ही समझ सकी।

कालिदास ने यहाँ पर स्त्री-मनोविज्ञान का बहुत ही सहज, स्वाभाविक विश्लेषण कर रससृष्टि की है। काव्य की दृष्टि से इस प्रकार का मनोविश्लेषण व्यापारात्मक कहा जाता है। व्यापारात्मक मनोविश्लेषण का एक और उत्तम चित्रण उन राजाओं की मानसिक स्थिति वर्णन करते हुए कालिदास ने प्रस्तुत किया है जो इन्दुमती के आगे बढ़ जाने से छूट गये हैं और जिसके मुँह निराशा से लटक गये हैं।[2]

काव्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का जो सैद्धांतिक पक्ष है, उसमें मनोवैज्ञानिक सत्य सर्वोपरि रहता है। कालिदास ने मेघदूत में इस सत्य का मनो-

---

१. तथा गतायां परिहासपूर्वं
सख्या सखी वेत्रभृदावभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यत् इत्यथैनां
वधूरसूया कुटिलं ददर्श। —रघु० ६।८२

२. सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः। —रघु० ६।६७

वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए नारी-हृदय की कोमलता, सुकुमारता और उसकी मानसिक भावनाओं का अनुशीलन डूब कर गहराई से किया है। कालिदास की यह उक्ति कितनी तथ्यपूर्ण एवं सत्य है कि आशा पर सारा संसार टिका हुआ है। नारी के कुसुम से भी अधिक कोमल हृदय को विरहाग्नि से दग्ध होने से केवल पुनर्मिलन की आशा ही बचाती हैं।[1]

दो प्रेमी-हृदयों की मानसिक स्थिति का याथातथ्य चित्रण करने में कालिदास का काव्य-शिल्प उसकी सूक्ष्म गवेषणात्मक प्रतिभा सर्वाधिक सफल रही है। शिवजी को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए पार्वती ने कठोर तप किया, विघ्न-बाधाएँ उन्हें हिला न सकीं। शिव की परीक्षा में वह पूर्ण सफल रही। तब एक दिन सहसा अपने समक्ष अपने चिर-अभिलषित आराध्य को खड़ा हुआ देखकर वह ठगी-सी रह गई। उससे कुछ कहते-करते न बन पड़ा। एक ओर उत्सुकता दूसरी ओर लज्जा उसे चपल और स्थिर बना रही थी। वह न तो जा सकती थी और न रुक सकती थी।[2] पार्वती की इस प्रकार की मानसिक दशा का सूक्ष्मनिरीक्षण करके कालिदास ने अपनी परिचय-चारुता और अण्वीक्षणशक्ति-सम्पन्न प्रतिभा का परिचय दिया है।

प्रेमी और प्रेमिका दोनों एक-दूसरे के प्रति जब आकृष्ट होते हैं तो परस्पर देखने के लिए उनमें ऐसी अकुलाहट पैदा होती है कि मन, मस्तिष्क और नेत्र थामे नहीं थमते। किन्तु यदि गुरुजनों का सान्निध्य हो तो यह अकुलाहट कशमकश पैदा करती है। उस समय समस्त आकांक्षाएँ नेत्रों के द्वार से छट-

१. आशाबन्धः कुसुमसदृशः
प्रायशो ह्यंगनानाम्।
सद्यः पाति प्रणयि हृदयं
विप्रयोगे रुणद्धि॥ —मे० दू० १०

२. तां वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि—
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती
मार्गाचलव्यतिकरा कुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ। —कु० स०। ४८५।

पटा-छटपटा कर निकलने की कोशिश करती हैं। शिव-पार्वती के विवाहकाल की ऐसी ही मनोदशा को कालिदास ने बड़े स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया है। शिव-पार्वती का विवाह हो रहा है। समस्त परिजन, पुरजन जुटे हुए हैं। इस जनाकीर्ण स्थिति में शिव और पार्वती एक दूसरे को देखने के लिए आकुल-व्याकुल हो रहे हैं। एक ओर लोगों के देखने का भय, दूसरी ओर प्रिय-दर्शन की तीव्र लालसा। दोनों के हृदयों में कसमसाहट पैदा होती है। अन्त में लालसा छटपटा कर आँखों पर जम जाती है। फलतः दोनों की चार आँखें एक हो जाती हैं और दोनों लज्जाक्रान्त हो जाते हैं।[1]

शोकातुर और चिन्तातुर व्यक्ति प्रायः शिथिल और उदास बन जाते हैं। उन्हें हर समय अकर्मण्यता घेरे रहती है। उनकी तेजस्विता लुप्तप्राय बन जाती है। उनका मन और मस्तिष्क ठिकाने नहीं रहता है—यह सामान्य मनोविज्ञान की बात है। अभिज्ञान शाकुन्तल में कालिदास ने दुष्यन्त की ऐसी ही मानसिक स्थिति का सांग चित्र खींचा है। शकुन्तला को यद्यपि वह शापवश ही भूल गया था, फिर भी उसका हृदय विकल बना हुआ था। जब से उसने शकुन्तला को अनजानी कहकर परित्याग किया तभी से उसका मन चिन्तित और खिन्न रहने लगा। उसकी नींद हर गई, शरीर दुर्बल पड़ गया, रसादि ऐन्द्रिय विषयों में उसकी अरुचि हो गई, वह विक्षिप्त-सा रहने लगा। वह इसी हालत में इन्द्र को देवासुर-संग्राम में सहायता देने जाता है, किन्तु उसका जोश ठंढा पड़ा हुआ था। उसे इस प्रकार निश्चेष्ट जानकर उसमें वीर रस के भाव भरने तथा जोश भरने के लिए इन्द्र के सारथि मातलि ने छिपकर दुष्यन्त के विदूषकमित्र को धर दबोचा। विदूषक हाय-हाय कर जब चिल्लाता हुआ प्राणरक्षा की पुकार करता है तब दुष्यन्त को एकदम जोश आ जाता है और वह धनुष पर बाण चढ़ाकर तुरन्त तैयार हो जाता है। उसके हृदय में इतनी हलचल समा गई कि उसके क्रोध और जोश को सँभालना

---

१. तयो समापत्तिषु कातराणि
किंचिद् व्यवस्थापित संहृतानि।
ह्रीयन्त्रणां तत्क्षणमन्वभूवन्
अन्योऽन्य लोलानि विलोचनानि —कु० स० ७५।

ठ पड़ गया। कालिदास ने दुष्यन्त की ऐसी मानसिक स्थिति का विश्ले- नोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया है।

प्रयजन का सम्मान करते हुए उससे रहस्य को छिपाया जाय, फिर भी अम्लान प्रेम और सहानुभूति की आशा रखे और विनम्र बना रहे, कदाचित् वह कोई कठोर व्यवहार करता है तो सारा प्रेम, सारी नम्रता— और धृष्टता में बदल जाती है। प्रेमी में प्रतिक्रिया के भाव जाग्रत हो उठते न मनोवैज्ञानिक सत्य का विश्लेषण कालिदास ने राजा पुरूरवा के चरित्र किया है। पुरूरवा अपनी राजमहिषी से छिपाकर उर्वशी से प्रेम करता अपने इस नाजायज प्रेम की गन्ध भी रानी को नहीं लगने देता है। किन्तु भेद खुल जाता है तो रानी औशीनरी कुपित होती है। उस समय राजा म्रता और उसके प्रेम में परिवर्तन होने लगता है। वह दिखावटी ढंग से को मनाने की चेष्टा करता है और जब रानी नहीं प्रसन्न होती तो राजा उदासीन होकर घृणा करने लगता है।[२]

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनोभावों को दबाने से भावनाएँ भीतर- भीतर तीव्र और बलवती बनती जाती हैं। जब दो प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे की की आजमाइश करने के लिए तुले हुए हों उस समय यदि उन्हें शान्त , समझौता कर लेने की सीख दी जाती है तो उनकी ईर्ष्या और अधिक ती बन जाती है। मानव की इस प्रवृत्ति का चित्रण कालिदास ने माल- ग्निमित्र नामक नाटक में गणदास और हरदत्त दो नाटचाचार्यों की आपसी द्वन्द्विता में किया है।

रसशास्त्र के आचार्यों ने प्रणय के विकास की दस अवस्थाएँ मानी हैं— ों का लड़ जाना, मन का आसक्त होना, मन में विविध भावों और विचारों उत्पन्न होना, निद्रा का न आना, शरीर से दुर्बल हो जाना, ऐन्द्रिक विषयों रुचि, निर्लज्जता, पागलपन, संज्ञाहीनता और मृत्यु को प्राप्त करना।

---

१. ज्वलति च चलितेन्धनोऽग्नि—
विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते जनः। —अ० शा० ६।३१।

२. विक्र० २।

ये अवस्थाएँ मानसिक हुआ करती हैं। मन की इन अवस्थाओं का वि
षण शृंगार रस के सिद्ध कवि कालिदास ने मनोविज्ञान की गहराई में उत
किया है। कालिदास के काव्यों में मानव-जीवन और मानव-स्वभाव सर्वत्र
बिम्बित है। मनोवेगों को पकड़कर शब्दों में बाँध रखना कालिदास की
षता है। इसलिए उनका काव्य सुकुमारतम और संवेदनशील बन गया है।

काव्य का उत्स--करुणा

कुमारसंभव, मेघदूत और रघुवंश की गणना लघुत्रयी काव्य के अ
की जाती है। रघुवंश महाकाव्य कालिदास की सशक्त रचना है और सं
यह उनकी अन्तिम रचना है। रघुवंश के महाकवि ने अपने इस काव्य में
की पृष्ठभूमि और उत्कृष्ट काव्य का गम्भीर विवेचन करते कवि हुए
कवित्व की जो परिभाषा निर्धारित की है वह अद्वितीय है। कालिदास अप
कवि कहने में संकोच करता है, वह स्वयं को कवि नहीं समझता। क
दृष्टि से काव्य-रचना करना उसे उपहासास्पद प्रतीत होता है।[1] वह देवता
ब्रह्मा और विष्णु तथा मनुष्यों में केवल वाल्मीकि को कवि मानत
कालिदास काव्य को अनुभूति से भरा हुआ हृदय-भूमि से अचानक फूट पड़ने
भावों का उत्स मानता है।[2] कवित्व एक शक्ति होती है जो अभ्यास यो
बढ़ती है। चारुता उसकी निष्पत्ति होती है और व्युत्पत्ति गरीयसी होती
तथा कविकर्म को काव्य कहा जाता है.......इत्यादि काव्य-संबन्धी मान्य

---

१. मन्दः कवियशः प्रार्थी, गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ —र

२. तामभ्यगच्छद्‌रुदितानुसारी,
कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः,
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ —रघु० १४-

३. कवित्वं जायते शक्ते—
र्वर्द्धतेऽभ्यासयोगतः।
तस्य चारुत्व निष्पत्ति—
र्व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी।

परिभाषाओं को परे रखकर कालिदास ने कवित्व को एक आपन्न—सहसा होने वाली वस्तु माना है। जिसकी पृष्ठभूमि करुणा होती है तथा कवि है जिसका उर-अन्तर करुणा से लबालब भरा हुआ हो। इसीलिए दास ने वाल्मीकि को सर्वत्र कवि कहकर सम्बोधित किया है।

कालिदास ने अपने काव्यों में कवित्व की धारा का मूल उद्गम करुणा ही या है। कुश और समिधा लाने के लिए ऋषि वाल्मीकि आश्रम से बाहर निकले ीडारत क्रौञ्च को निषाद द्वारा आहत देखते ही उनका शोक श्लोक में परिणत या। और वही ऋषि भागीरथी के तट पर विलख-विलख कर रोती हुई सिता सीता को जब देखते हैं तो उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता है[1] वह उसे अपने साथ आश्रम में ले आते हैं।

कवि और काव्य का मूल उत्स करुणा सिद्ध करते हुए कालिदास मनुष्यों केवल वाल्मीकि को ही कवि मानते हैं और भाव-विभोर होकर उनके प्रति ा भरे उद्गार प्रकट करते हैं। जहाँ कहीं कवि (वाल्मीकि) का प्रसंग आया है, लिदास ने करुणा की अमन्द मन्दाकिनी बहाकर अपने आराध्य-कवि का भिषेक किया है।

अश्वमेध सभा में लव-कुश द्वारा गाये गये अपने चरित को सुनकर श्रीराम से अपने चरित के निर्माता का नाम पूछते हैं और जब लव-कुश रामायण रचयिता महर्षि वाल्मीकि का नाम बतलाते हैं तो श्रीराम उस अनुग्रह के षि को अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए तैयार हो जाते हैं। किन्तु लिदास के कवि (वाल्मीकि) का हृदय सचमुच कवि का हृदय था। उसमें नी करुणा भरी हुई थी कि उसके अलावा और किसी प्रकार की वासनाओं लिए गुंजाइश ही नहीं थी। करुणा भूमि-कवि ने करुणार्द्र होकर केवल कारण निर्वासित सती सीता को पुनर्ग्रहण करने का अनुरोध श्रीराम किया।[2]

कालिदास की दृष्टि में कवि क्रान्तदर्शी होता है। वाल्मीकि के कवित्वोदय

---

१. वाल्मीकिरादाय वयार्द्रचेता—रघु० १४-७९।

२. कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः संपरिग्रहम्।—रघु० १५।७१।

के मूल में निहित उनकी क्रान्तदर्शिता की भाँति उन्होंने कुमारसंभव में ब्र
को पुराण कवि[1] कहकर अपनी धारणा का निर्वाह किया है। तारकासुर
अत्याचारों से स्वर्गलोक त्राहि-त्राहि कर रहा था, सूर्य, चन्द्र, वरुण तथा सम
देवगण विपत्तिग्रस्त होकर, बड़े आर्त्तस्वर से ब्रह्मा की जब स्तुति करने ल
तो उनके आर्त्तनाद को सुनकर ब्रह्मा का हृदय द्रवित हो उठा। करुणा
अनन्त स्रोत उनके हृदय में उमड़ आये तब उस कारुणिक पुराण कवि के मु
से अकस्मात् सरस्वती फूट पड़ी। इसी प्रकार रघुवंश में रावण से त्रस्त-ग्र
देवगण जब क्षीरशायी विष्णु के पास जाकर आर्त्तवाणी से स्तुति करने ल
तो विष्णु का हृदय द्रवित हो उठा और करुणा की सरस्वती फूटकर ब
निकली। विष्णु को भी कालिदास ने पुराणकवि कहा है।[2] रघुवंश के अति
रिक्त विष्णु को कवि रूप में कहीं अन्यत्र अभिहित नहीं किया गया है। ब्रह्
और वाल्मीकि तो ख्यात कवि हैं, किन्तु विष्णु कवि के रूप में कहीं भी स्मृ
नहीं हुए हैं। संभवतः कालिदास का तात्पर्य विष्णु के अवतार कृष्णद्वैपाय
व्यास से रहा है। ब्रह्मा, वाल्मीकि और व्यास—ये तीनों भारतीय काव्य-जग
में कवि के रूप में यशःप्राप्त हैं।[3]

कालिदास ने करुणा को काव्य की पृष्ठभूमि मानकर उसे काव्य क
असाधारण धर्म माना है। कालिदास की दृष्टि में काव्य वही है जो श्रवण
मनन से श्रोता के हृदय में अतिशय द्रुति उत्पन्न कर दे। इसीलिए कालिदा
ने वाल्मीकिरामायण को 'कवि प्रथम पद्धति' माना है।[4]

कालिदास ने स्पष्टतया काव्य उसी को माना है, जिसे सुनते ही श्रोत
निवृत्त वनस्थली के समान स्तब्ध हो जाये, उसका चित्त अन्तर्मुखीचेतना

---

१. पुराणस्य कवेस्तस्य चर्तुमुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी॥ —कु० सं० २।१७
२. रघुवंश १०।३६।
३. एकोऽभून्नलिनात् ततश्च पुलिनात् वाल्मीकतश्चापर-
स्ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे। —कर्णाटराजप्रिय
४. स्वकृतिं ज्ञापयामास कविः प्रथमपद्धतिम्। —रघु० १५।३३

वलीन हो जाए, किन्तु उस समय उसमें समाधिस्थ योगी की भाँति निष्क्रियता और नीरसता न हो। बल्कि वह उषा के समान सौन्दर्य से अभिषिक्त और चित्तद्रुति के हिम निष्यन्द से सिक्त हो।

कालिदास अपने कवि (वाल्मीकि) को ऐसी ही कविता का कवि मानता है। अश्वमेध सभा में लव-कुश के मुँह से रामायण का गान सुनते ही वहाँ की संसद् अश्रुमुखी बन जाती है। कालिदास ने जन-संसद् को अश्रुमुखी कहते हुए यह व्यक्त किया है कि वाल्मीकि की कविता में जनसाधारण के चित्त को आकृष्ट करने, एकाग्र करने, करुणा प्लावित करने की ऐसी अदम्य क्षमता थी जो पाषाण हृदय को भी पिघलाकर तरल और सरल बना सकती थी।

यद्यपि यह परम्परागत प्रसिद्धि चली आ रही है कि कालिदास शृङ्गाररस के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं, उनकी कविता में शृङ्गार को शृङ्गार मिला है। किन्तु कालिदास की कविता को आन्तरिक समीक्षा की जाये, उसका सूक्ष्म अध्ययन किया जाये तो यह समझने में प्रयास नहीं करना पड़ता कि कालिदास करुणाजनक काव्य को ही काव्य मानते थे और शृङ्गार रस की परिणति करुणा को ही समझते थे। उनका समस्त कृतित्व करुणा से स्नात और अभिषिक्त है। उनके काव्य में शृङ्गार रस, करुणा रस से ही परिपूर्ण और परिपक्व बन सका है। कवि ने शृङ्गार की अपेक्षा करुण रस को ही प्रधान माना है। अज-विलाप के प्रसंग में उन्होंने करुण रस की मुक्तिकण्ठ से प्रशंसा की है। उसमें जितना अंश करुणरस प्रधान है उतने को उन्होंने अत्यधिक द्रुतिजनक माना है। कालिदास करुण रस को काव्य के उद्देश्य का प्रधान बिन्दु मानकर वाल्मीकिरामायण को 'कवि प्रथम पद्धति' कहते हैं और उसकी तुलना में अपने काव्य को उत्कीर्ण मणियों में सूत्रगति के समान अधिक महनीय नहीं मानते हैं।[1] लेकिन कालिदास के काव्यों में जहाँ कहीं करुणा के प्रसंग आये हैं वे वाल्मीकि रामायण की करुणा से कहीं अधिक द्रुतिजनक और द्रावक सिद्ध हुए हैं। लव-कुश के मुख से रामचरित का गान सुनकर जनसंसद् अश्रुमुखी बन जाती है। वह जनसंसद् चेतन मनुष्यों की थी, उन्हीं पर प्रभाव पड़ा, अचेतन

---

१. अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

वर्ग पर नहीं। किन्तु कालिदास द्वारा कराये गये अज-विलाप को सुनकर जड़-चेतन सभी अश्रुमुखी बन गये। वृक्षों की भी डबडबाई आँखें उन्हें अश्रु-सिक्त करती थीं।[1] अचानक इन्दुमती की मृत्यु पर रक्ताशोक भी कुसुमाश्रु बहाकर शोक प्रकट कर रहा था।[2] और शिव द्वारा कामदेव को भस्म किये जाने पर जब उसकी पत्नी विलख-विलख कर रो रही थी[3] तो उस समय आस-पास की वनस्थली भी रति के समान ही शोकातुर हो उठी थी तथा दुबारा निर्वासित किये जाने पर जब सीता करुण-क्रन्दन करती हुई रो रही थीं तो उनकी आर्त्तवाणी सुनकर मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया, हिरनों ने मुख में दबे हुए चारे को उगल दिया और वृक्ष कुसुमाश्रु गिराने लगे थे।[4] कुबेर द्वारा शापित यक्ष ने रामगिरि में जिस समय आषाढ़ के प्रथम बादल को देखा तो उसका विरह जाग उठा। वह कामार्त्त, विरहातुर यक्ष चेतन-अचेतन का ज्ञान भूलकर मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रिया के पास सन्देश भेजने के लिए उससे जब विनम्र निवेदन करता है, उस समय वह स्वप्न में दिखी हुई अपनी प्रिया को बाँहों में भर लेने की उत्कट इच्छा से जब दोनों हाथ बढ़ाता है तो उसकी यह दशा देखकर स्थली देवियों के हृदय करुणा से भर जाते हैं और बड़े-बड़े मोतियों के समान उनके आँसू तरु किसलयों पर ढुलक पड़ते हैं।[5]

कालिदास को अपनी कविता पर यदि कहीं विश्वास है, आस्था है तो वह करुणार्थ ग्रथित कविता पर हां और ऐसी ही कविता पर वह अपने कविकर्म को सफल मानता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि चित्त को द्रवित करनेवाली कविता ही कविता है, शेष दिमागी ऐय्याशी। वह अपने शृंगार-बहुल काव्य में करुणा को ममताभरी निगाहों से देखता है। अपने काव्यगत शृंगार को करुणा द्वारा पूर्णता प्रदान करता है। यही नहीं, वह शृंगार को प्रधान न

---

१. विलपन्निति कौसलाधिपः करुणार्थ ग्रथितः प्रियां प्रति।
अकरोत् पृथिवीरुहानपि, श्रुतशाखा रसबाष्पदूषितान्॥

२. रघु० ८।६३।

३. कु० सं० २।४।

४. रघु० १४।६९।

५. उत्तरमेघ ४९।

नकर काव्य में करुणा को ही प्रधान मानते हुए रघुवंश के चतुर्दश सर्ग के म्बन्ध में सहृदय पाठकों, आलोचकों से प्रार्थना करता है कि वे कवि के इस र्वाधिक महनीय सर्ग को करुणा के बहते हुए अजस्र प्रवाह से घबरा कर ोड़ न दें ।[1]

हम देखते हैं, कि जहाँ पर कालिदास का श्रृंगार चरम सीमा पर पहुँचता है वहीं वह शोक में परिणत हो जाता है । अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त और शकुन्तला अपने उद्दाम यौवन रस का आनन्द लेते हैं । एक दूसरे के शारीरिक सौन्दर्य पर आसक्त होकर पवित्र ऋषिआश्रम में ही उनका भोग-विलास इस चरम सीमा तक पहुँच जाता है कि दोनों ऋषि की अनुपस्थिति में आश्रम-वासियों से छिपाकर गान्धर्व विवाह कर लेते हैं। यही नहीं, अविवाहिता कुमारी शकुन्तला पिता के ही घर में गर्भिणी हो जाती है । शकुन्तला के इस अनियंत्रित कार्य-व्यापार को कालिदास अच्छी निगाहों से नहीं देखते, वे इसे आपातरमणीय विलास की सृष्टि को शाश्वत नहीं समझते । उनकी दृष्टि में ऐसी क्रीड़ाओं का पर्यवसान शोक में हुआ करता है । शकुन्तला और दुष्यन्त की मदान्ध जवानी की उच्छृंखल वासनाएँ जहाँ कण्व आश्रम में हँसती, मुसकुराती, आलिंगनबद्ध नजर आती है वहीं मारीचिआश्रम करुणाप्लावित, शान्त और गंभीर बन जाता है ।

मेघदूत के यक्ष और विक्रमोर्वशी के पुरूरवा की स्थिति एक-सी है । दोनों जहाँ अपनी-अपनी प्रियतमाओं को वासनाभिभूत आँखों से एक क्षण अलग नहीं होने देते । वहीं दोनों को असह्य वियोग-व्यथा में जलना पड़ता है । कामार्त्त यक्ष और पुरूरवा प्रिया-विरह से विक्षिप्त-से हो जाते हैं । ठोकर खाने का नाम ज्ञान है । यह उक्ति जब दोनों में चरितार्थ होती है तो यक्ष मेघ से सन्देश भेजता है कि वह अब वर्ष भर के वियोग-जन्य सन्तापों और उत्कण्ठाओं को सफल बनायेगा अवश्य, किन्तु अपने दाम्पत्य जीवन को संयमित और नियमित बना-येगा । वह अधिकार और मर्यादा को आहुति वासना की वेदी में नहीं देगा । इस संकल्प के आधार पर यक्ष ने भोग-विलास के लिए केवल रात का समय ही निश्चित किया, दिन का नहीं ।

---

१. तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तै र्नभवद्भिः प्रतिबोधनीयः । —रघु० १४।४२ ।

उर्वशी के वियोग में पागल पुरूरवा मानसिक सन्तुलन जब खो बैठता है तो यक्ष से भी अधिक वह अविवेकी बन जाता है। वह कभी कमलिनी पर गूँजते हुए भौंरे से अपनी प्रियतमा को माँगता है, कभी हथिनियों के साथ जल-विहार करते हुए यूथप से। कूजते हुए कोकिल को लानत-मलामत देता है तो कभी मन्दगति से चलते हुए हंस पर अपनी प्रियतमा की गति चुरा लेने का अभियोग लगाता है। इतना ही नहीं, वह इतना विमूढ़ बन जाता है कि चेतन-अचेतन का उसे कतई ज्ञान नहीं रह जाता और वह इन्द्रधनुषयुक्त कृष्ण मेघ को देखकर उसे राक्षस समझकर इसलिए ढेला मारने को दौड़ता है कि उसी ने उसकी प्रियतमा का हरण किया है।

प्रिय-विरह-व्यथित पुरूरवा की यह अवस्था रति की नहीं, निर्वेद की है। जब दोनों का साक्षात्कार होता है तो दोनों के अश्रुप्लावित हृदय पश्चात्ताप से भर जाते हैं।

अज और इन्दुमती का दाम्पत्य-प्रेम यक्ष-यक्षिणी एवं पुरूरवा-उर्वशी की भाँति अमर्यादित और अनियंत्रित न होते हुए भी क्रान्तदर्शी कवि यह सिद्ध करना चाहता है कि यौवनरस, भोग-विलास और दाम्पत्य जीवन का वासनामय आनन्द शाश्वत नहीं, क्षणिक होता है। तरुण दम्पति को विवेकी बनकर यौवनरस का उपभोग करना चाहिए। सामाजिक मर्यादाओं और परम्पराओं की उपेक्षा करके भोगरत होने में आनन्द शोक बनकर खा जाता है। यद्यपि अज और इन्दुमती ने अपने लीला-विहार में उच्छृंखलता और मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होने दिया, किन्तु जब वे दोनों उपवन में विहार करने जाते हैं तो कवि को वहाँ पर सामाजिक नियमों का अतिक्रमण प्रतीत होता है। वहीं दोनों का वियोग हो जाता है। यहाँ कवि ने दोनों के वियोग में दैवी प्रकोप को कारण बनाकर अपनी अनवद्य कुशलता का परिचय दिया है। मृत्यु-प्राप्त इन्दुमती आकाशमार्ग से जाते हुए नारद की वीणा से गिरे हुए नन्दनवन के पुष्पों को देखते ही तुरंत अप्सरा बनकर भूलोक पर उतर आती है, किन्तु अज उससे तब तक नहीं मिल पाता जब तक मानव देह छोड़कर गन्धर्व नहीं बन जाता है।

यक्ष, पुरूरवा, अज, दशरथ, दुष्यन्त और अग्निमित्र को जीवन में एक-एक

बार ही शोकाभिभूत होना पड़ा, किन्तु राम को तीन-तीन बार। कवि कालिदास की दृष्टि मनुष्य और परमात्मा के अवतार में भेद रखती है। मनुष्य का हृदय बार-बार शोक को सहन नहीं कर सकता। किन्तु ईश्वरावतार राम में इतनी क्षमता थी कि एक नहीं हजार बार शोक को अंकस्थ करके शुद्ध बुद्ध निर्लेप बने रह सकते हैं। कवि का मुख्य तात्पर्य यही रहा है कि दैहिक सुखों का पर्यवसान बारम्बार विषाद में ही होता है, इसलिए क्षमताशील राम में उन्होंने तीन बार दैहिक आनन्द का पर्यवसान विषाद में दिखाया है। एक बार पंचवटी में माया-मृग के माध्यम से रावण द्वारा सीताजी का अपहरण होता है। श्रीराम छले जाते हैं। प्रिया के विरह में वह भी पागल होकर जंगल के लता, विटपों से सीता का पता पूछते हैं। दूसरी बार राज्याभिषिक्त होने पर गर्भिणी सीता पर लगाए गये मिथ्या आरोपों को न सहकर वह उन्हें पुनः निर्वासित कर शोक और विषाद को चुपचाप पीते रहे। कुछ काल बाद वाल्मीकि के अनुग्रह से सीता से पुनर्मिलन का जब अवसर आता है तो राम के चाहते हुए भी सीता दाम्पत्य सुख से वैराग्य ले लेती है और धरती की गोद में समा जाती हैं।

रघुवंश में राम के बाद कुश और अग्निवर्ण का भोग-विलास इतना अमर्यादित और विवेकहीन दिखाया गया है कि कवि ने अपने चातुर्य से यह सिद्ध कर दिया कि आनंद का पर्यवसान विषय में केवल व्यक्ति का ही नहीं होता है, व्यक्तियों के द्वारा वंश की उज्ज्वल कीर्ति कलंकित हो जाती है। हँसता, खेलता, मुस्कुराता हुआ वैभव क्षणभर में धूल में मिल जाता है। शालभंजिका की तरह घर में सोयी हुई वंश-कीर्ति कपूर की तरह उड़न-छू बन जाती है।

राम के महाप्रयाण के बाद ही अयोध्या का सारा वैभव तिरोहित हो जाता है। आनन्दविभोर कुश नवयौवना सुन्दरियों के साथ केलि-क्रीडाएँ करते हुए अपने पिता राम से प्राप्त जैत्राभरण खो बैठते हैं, उनका सारा रास-रंग कोप के दावानल और विषाद की वैतरणी में तिरने लगता है।

अग्निवर्ण के आचरणों ने सीमाओं का इतना अधिक अतिक्रमण किया है कि उससे समस्त रघुवंश की लुटिया डूब गई। 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'— इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की जो यह परम्परा थी, वह अग्निवर्ण तक आकर

समाप्त हो जाती है। वह युवावस्था में ही यक्ष्मा से पीड़ित होकर घुट-घुटकर मर जाता है।

घोर विलासी, महान् व्यभिचारी, प्रजावर्ग की पूज्य भावनाओं का तिरस्कार करने वाला अग्निवर्ण कालिदास की शिव भावनाओं का एक ज्वलन्त प्रमाण है। कालिदास विश्व-भर के मानव-समाज को यह बतला देना चाहते हैं कि विवेक और विलास—इन दोनों में द्यावा पृथिवी का अन्तर है। विलासी, विवेकी नहीं बन सकता है। विलासिता का पर्यवसान शोक होता है। विवेक और विलास दोनों के परिणामों को स्पष्ट रूप से जन-समाज के समक्ष प्रस्तुत करना कालिदास के कवित्व का लक्ष्य रहा है। वह अपने काव्यों, नाटकों द्वारा यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि श्रृंगार पंचभूतों से निर्मित शरीर का विषय है। शरीर नश्वर होता है। श्रृंगार शरीर के साथ ही नष्ट होने वाली वस्तु है। विवेकी पुरुष श्रृंगार पर, देह पर आस्था नहीं रखते हैं। कालिदास-जैसे विवेकी कवि की आस्था उस यशःशरीर पर है जो नष्ट होने पर भी अजर-अमर रहती है। कालिदास उस शरीर पर आस्था रखते हैं, जिसने मानवता को अंगीकार कर सुपथ पर अग्रसर होकर त्याग और तप द्वारा मानव-समाज का कल्याण किया है।

श्रृंगार के सर्वोत्कृष्ट कवि होने से कालिदास अजर-अमर हैं—यह कहना कालिदास के साथ अन्याय होगा। कालिदास भारतीय संस्कृति की आत्मा के आराधक कवि थे। वह सौन्दर्य और भोग-वासनाओं को क्षणिक एवं अविवेक की जन्मभू मानते थे। कालिदास उस सौन्दर्य और कामना के समर्थक थे जिससे मन को शान्ति मिले और जिसकी स्थिति क्षणिक न होकर शाश्वत हो। वह श्रेय के साधक, कल्याण के सर्जक और करुणा के आविर्भावक कवि थे।

प्रगति और प्रयोग

आज के युग की कविता में प्रगति और नये प्रयोगों का प्राधान्य है। भारतीय काव्य की आधुनिक काव्यधारा में जो प्रगति और प्रयोग की तरंगें तरंगायित हो रही हैं, उनमें परम्पराओं के प्रति विद्रोह के साथ ही अपने देश की मिट्टी के प्रति नितान्त निर्मोह समाया हुआ नज़र आता है।

संस्कृत काव्य में प्रगति, प्रयोग, छाया, रहस्य आदि वर्तमान प्रचलित

अनेक काव्य-वादों की कमी नहीं है। वाद की दृष्टि से संस्कृत काव्य कृपण या दरिद्र नहीं कहा जा सकता है। एक ही युग में विविध विचार-धाराओं का प्रवाह समानान्तर रेखा बनकर प्रवाहित हुआ और अन्त में दोनों माता भूमि की गोद में हिल-मिलकर एक बन जाते हैं।

प्रगतिशील विचारधारा के पोषक कवि कालिदास ने कविता में नये प्रयोग कर नये युग का निर्माण किया है। प्रणय के विषय में उनकी मान्यता किसी थोथी, मिथ्या मर्यादा या संकोच में नहीं बँधो। उनकी कला-सृष्टि में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक समादृत और आकर्षक हैं। कालिदास ने पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कहीं अधिक सार्वभौम एवं सार्वकालिक तत्त्वों की खोज की है। कालिदास के पुरुषपात्र प्रायः चंचल-वृत्ति और अस्थिर स्वभाव के हैं और स्त्री-पात्रों में गहरी वेदना आन्तरिक है। उनमें सामरस्य और सामंजस्य की भावना अधिक मिलती है। वे लोक और वेद की परम्परा को जीवित और जाग्रत बनाये रखने में पूर्ण योगदान करती हैं। कालिदास ने अपने नारीपात्रों के वर्णन में परम्परागत रूढ़ि या सम्प्रदाय-विशेष की परिपाटी का अनुसरण न करके प्रगतिशील विचारों की सृष्टि की है। कदाचित् कालिदास की इन्हीं भावनाओं को पहचान कर जर्मनी के कवि गेटे ने कालिदास की शकुन्तला के सम्बन्ध में यह कहा था कि—

> 'यदि तुम्हें वसन्त की कुसुम समृद्धि और ग्रीष्म के परिपक्व फलों की मिठास, मनको मुग्ध, आह्लादित और संतृप्त करने वाली सब चीजें भूलोक और स्वर्गलोक—यह सब एक ही शब्दों में कहना हो तो कह दो—'शकुन्तला'।
> सभी कुछ उसमें आ जाता है।'

दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रणय-व्यापार शारीरिक सौन्दर्य के आकर्षण से प्रारम्भ होता है, आत्मिक अनुभूति उसे अलंकृत करती है। दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व विवाह को ऋषि कण्व नाजायज़ या बुरा न मानकर आशीर्वादपूर्वक शकुन्तला को पतिगृह विदा करते हैं। शापवश दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जाता है। वह उसे पहचान नहीं पाता है। पति द्वारा तिरस्कृत शकुन्तला अकेली रह जाती है, उसे कुछ सूझता नहीं। प्रणय और पत्नीत्व का असह्य अप-

मान वह गम्भीरता से पी जाती है। घोर मानसिक क्लेश मौन होकर झेलती है। पति से पुनः मिलने की अवधि तक वह तापस जीवन व्यतीत करती है।

कालिदास ने प्रणय को, स्त्री-पुरुष के प्रेम को जहाँ नैसर्गिक और स्वच्छन्द माना है वहीं शकुन्तला की साधना द्वारा उन्होंने यह भी बताया है कि प्रेम केवल विषय-व्यापार नहीं, बल्कि दो हृदयों का समवाय सम्बन्ध है। इसीलिए दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों विरहाग्नि में तपते हैं और फिर परिशुद्ध होकर आत्मिक शान्ति प्राप्त करते हैं।

दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय-व्यापार के माध्यम से कालिदास ने बताया है कि शारीरिक सौन्दर्य-सुख की ललाम दीप्ति क्षणिक होती है, वह अन्त में चिरन्तन आनन्द ज्योति में मिल जाया करती है। स्त्री-पुरुष के रति-भाव का सम्बन्ध शुभ आदर्शों से संयुक्त होता है और उसका सामंजस्य निसर्ग सौन्दर्य से होता है।

इसीलिए कवि ने दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रथम समागम को अनैतिक व्यापार या व्यभिचार नहीं माना है।

इसी तरह भगवती पार्वती शिवजी को अपना पति बनाने के लिए मन-ही-मन कठोर संकल्प कर लेती हैं। वह अपनी कंचनकाया की कमनीय कान्ति से नहीं, बल्कि आत्मसमर्पण की प्रबल भावना से और शिव की ही भाँति कठोर तपः साधना से शिव का मन जीतना चाहती है। कालिदास कहते हैं कि पार्वतीजी की अर्थ और काम से अरुचि हो गई है, उनकी सारी निष्ठा केवल धर्म में है।

योगीश्वर शिव को उमा की साधना के समक्ष सिर झुकाना पड़ा, वह उनकी तपस्या के क्रीतदास बन गये। कालिदास ने उमा की इस विजय द्वारा इस सत्य का उद्घाटन किया है कि वैवाहिक आकर्षण से उत्पन्न प्रणय को तप और संयम में प्रतिष्ठापित करना चाहिए।

इन्दुमती और अज, उर्वशी और पुरूरवा; मालविका और अग्निमित्र, शकुन्तला और दुष्यन्त, यक्षिणी और यक्ष, उमा और शिव के परस्पर प्रणय की पृष्ठभूमि में कालिदास ने प्रेम का वह पवित्र उद्देश्य बताया है, जिससे

पुरुष और स्त्री का पूर्ण तादात्म्य होता है। कालिदास ने स्पष्ट व्यक्त किया है कि पत्नी पति की सम्पत्ति नहीं, बल्कि पति और पत्नी मिलकर पूरक होते हैं।

स्त्री और पुरुष के राग और रतिभाव के संबंध में पाश्चात्य यौन मनोवैज्ञानिक फ्रायड, हैवलॉक एलिस, एडनर तथा साम्यवाद के प्रवर्त्तक मार्क्स के जो विचार हैं वे सब कालिदास के उच्छिष्ट-से जान पड़ते हैं।

फ्रायड का मत हैं कि स्वच्छन्द विचार एवं समान वस्तुओं को देखकर दबी हुई वासनाएँ उभर आती हैं। फ्रायड के इस कथन को हम मेघदूत में विरही यक्ष की चेष्टाओं से भली-भाँति समझ सकते हैं। कालिदास ने यक्ष को 'कामी' कहा है। फ्रायड का कहना है कि हम जीवन में जो भी चेष्टाएँ करते हैं वे सब काम-प्रेरित होती हैं। कालिदास का यक्ष ऐसा कामी है जिसकी कामनाएँ एक निश्चित अवधि तक के लिए कुण्ठित की जा चुकी हैं। वह आषाढ़ के प्रथम मेघ को देखकर जो चेष्टाएँ करता है उसमें उसकी अतृप्त काम-वासना ही लक्षित होती है। जब मेघ को पर्वत का आलिंगन करते हुए यक्ष देखता है तो उसे अपनी प्रिया के आलिंगन का स्मरण हो आता है। समान वस्तु को देखकर उसकी दबी हुई वासना जाग्रत हो उठती है। वह कामार्त्त यक्ष प्रकृति-कृपण बनकर चेतन-अचेतन का विवेक खो बैठता है। काम उस कामी यक्ष से इच्छित चेष्टाएँ कराता है। वह पर्वत, मेघ, नदी आदि सबको कामी समझ लेता है।

फ्रायड का यह कथन कि मानसिक जीवन में यथार्थ और इच्छाओं के बीच जो संघर्ष होता है उसका समाधान कलाकार कला के द्वारा व्यक्त करता है—मेघदूत का यक्ष चरितार्थ करता है। वह पर्वतशिला पर गेरू से अपनी प्रिया का चित्र अंकित करता है। और अलकापुरी-स्थित विरहिणी यक्ष प्रिया के वीणा बजाती है, मयूर नाचने आदि भावों, व्यापारों का स्मरण इच्छा और यथार्थ की कलास्वरूपिणी अभिव्यक्ति बन जाती है।

एडनर ने यौन मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर जो दो प्रकार के व्यक्ति बताये हैं उन दोनों प्रकार के व्यक्तियों का समन्वय कालिदास के यक्ष में मिलता है। एक ओर तो वह यक्ष नितान्त कल्पनाशील, भावुक और अव्यावहारिक है और

दूसरी ओर वही कुशल व्यवहारविद्, सामाजिक है। धूम, ज्योति, सलिल और मरुत् के सन्निपात मेघ को दूत बनाकर अलका भेजना, उसे सन्देश बताना यक्ष की नितान्त अव्यावहारिकता, कल्पनाशीलता और भावुकता है। साथ ही मेघ को मीठी-मीठी बातों से फुसलाना, उसे पुष्पांजलि भेंट करना उसकी व्यवहार कुशलता एवं सामाजिकता है। इसी प्रसंग में यक्ष अपनी प्रिया का परिचय बताते हुए मेघ से जब कहता है कि उसकी प्रिया मलिनवसना होकर अकेले एकान्त में बैठी रो रही होगी—एक ऊँचे किस्म की भावुकता भी है।

हैवलॉक एलिस ने बताया है कि कामार्त्त व्यक्ति अपनी इच्छित वस्तु या स्थिति को प्राप्त करने की इच्छा रखकर तीव्र उत्कण्ठा की अनुभूति के साथ या तो आदर्श प्रस्तुत करता है या हठधर्मिता कल्पित करता है। यक्ष भी अपनी यक्षिणी का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हुए कहता है कि मेरी प्रिया ने विरह के प्रथम दिन माला के बिना जो वेणी बाँधी थी वह शापान्त में मेरे द्वारा ही खोली जाने वाली है। इतना ही नहीं, वह अपनी प्रिया को सीता के समान बतलाकर कहता है कि इतना कहने पर वह तुम्हारी ओर उसी प्रकार निहारेगी जैसे सीता ने हनुमान को देखा था। स्वप्न के सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हुए फ्रायड ने बताया है कि मनुष्य सोते समय भी निश्चेष्ट निष्क्रिय नहीं होता है। वह जाग्रत अवस्था में जो चेष्टाएँ, भावनाएँ व्यक्त नहीं कर पाता उन्हें स्वप्न के माध्यम से व्यक्त करता है।

यक्ष भी मेघ से कहता है कि तुम्हारे पहुँचने पर यदि मेरी प्रिया सो रही हो तो किवाड़ मत खटखटाना, चुपचाप खड़े रहना, उसे जगाना नहीं। कहीं ऐसा न हो कि बड़ी कठिनाई से सपने में मुझसे भेंट होने पर गाढ़ालिंगन में उसके गले में पड़ी हुई भुजलता की ग्रन्थि सहसा खुल जाए।

मार्क्स के सिद्धान्तों का साहित्य प्रगतिवादी कहलाता है। मार्क्स ने साम्यवाद की जो स्थापना की है उसके बीज कालिदास के काव्यों में विद्यमान हैं। प्रजानामेवभूत्यर्थं लिखकर कालिदास ने बताया है कि राजा प्रजा से कर लेकर प्रजा के हित में ही खर्च करे, न कि अपने ऐश ओ इशरत में। उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार सूर्य पृथिवी से जल लेकर फिर पृथिवी को वापस कर देता है उसी प्रकार राजा को भी निस्पृह और उपकारी होना

चाहिए। रघुवंश से यह भी प्रकट है कि राजस्व का अधिकांश प्रजा के हित में ही खर्च किया जाना चाहिए। कालिदास का राजा तानाशाह नहीं था, वह वेतन-भोगी था—'दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेवभूः'।

जनता की रक्षा करने के निमित्त राज्य प्रजा की भूमि की उपज का सिर्फ छठा भाग लेने का अधिकारी था, इससे अधिक नहीं—षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः। कालिदास का राजा अपनी प्रजा के हित-चिन्तन के लिए सदैव सचेष्ट और चिन्तित रहता था। कवि ने शाकुन्तल में दुष्यन्त के मुख से घोषणा कराते हुए कहा है कि—'प्रजाजन में यदि किसी का कोई मर गया हो तो उसके स्थान पर वह उसे ही अपना सगा समझे'।

मेघदूत में ग्रामवृद्ध हिल-मिलकर बैठते हैं और पुरानी कथाएँ सुनते सुनाते हैं तथा ग्राम्यबालाएँ भूमि को कृषिसम्भवा बनाने वाले मेघ को आशाभरी निगाहों से देखती हैं। कालिदास के ये वर्णन प्रगतिवादी और यथार्थवादी हैं जो राष्ट्रीयता पर आधारित हैं।

कालिदास की समन्वय-भावना

भारतीय संस्कृति और जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व कालिदास के साहित्य में विद्यमान है। उनके काव्य में सौन्दर्य और श्रेय का सामञ्जस्य अद्वितीय है। यदि यह कहा जाय कि कालिदास का काव्य-साहित्य पृथिवी सूक्त की भाँति भारतीय-भूमि का काव्य है और वह पृथिवीपुत्र है तो अतिशय कथन न होगा। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और कम्बोज से लेकर पुरी तक की भारतीय संस्कृति और भारतीय प्रकृति का समस्त सौन्दर्य कालिदास के काव्यों में निहित है। प्राकृतिक और सामाजिक सौन्दर्य एवं शिष्टाचार का अद्भुत समन्वय कालिदास के काव्य में मिलता है।

रघुवंश काव्य के मंगलाचरण मे कवि ने वाणी और अर्थ की भाँति सम्पृक्त पार्वती और शिव की वन्दना द्वारा काव्य के रूप और तत्त्व को साकार रूप दिया है। कालिदास को कृतियों का अध्ययन यदि शब्द-संयम और शब्दबोध पद्धति पर भाषाविज्ञानिक माध्यम से किया जाए तो शब्द और अर्थ का सहज सामंजस्य सर्वत्र प्राप्त होता है। कालिदास ने अपनी सरस काव्यभूमि में भारतीय

जीवन और संस्कृति को नैसर्गिक सौन्दर्य दान देकर विकसित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'समन्वय' ही कालिदास का जीवन दर्शन था जो अनेक रूप धारण कर उनकी कृतियों में प्रस्फुटित हुआ है। आदि से अन्त तक सर्वत्र 'कर्तव्य शास्त्र' की व्याख्या कालिदास की कृतियों में मिलती है।

सांस्कृतिक समन्वय

यद्यपि युगधर्म के अनुसार कालिदास की कृतियों में स्मार्त्तधर्म का ही प्रभाव अधिक है, किन्तु उनके साथ वैदिक भावनाओं का समन्वय बड़ी बारीकी से किया गया है। भारतीय धर्मशास्त्र समन्वय-भावना के प्रेरक, उन्नायक और वाहक हैं। जहाँ कहीं आचार का प्रसंग आया है वहीं कालिदास ने 'विधि' शब्द का प्रयोग करके धर्मशास्त्र को मान्यता और महत्त्व प्रदान किया है। भारतीय संस्कृति में विधिशास्त्र आचरण की मर्यादाएँ निर्धारित कर उनका नियम करता है। विधिशास्त्र को एक प्रकार का कर्त्तव्य शास्त्र कह सकते हैं और कालिदास ने पदे पदे 'विधि' को महत्त्व और मान्यता दी है।

हमारे धर्म, हमारी संस्कृति का मूल स्रोत वेद माना जाता है। वेदों में यज्ञ की विधियों का विधान है। स्मार्त्त कर्मों और व्यवहारों में कालिदास यज्ञ-याग की विधि को भूलते नहीं। कालिदास ऐसी कोई कृति नहीं जिसमें वैदिक विधियों या होम कर्म का वर्णन न हो। विधि शब्द के प्रचुर प्रयोग कालिदास का इस शब्द के प्रति मोह नहीं, बल्कि वैदिक धर्म कर्म पर गहरी आस्था के परिचायक हैं। जन्म संस्कार से लेकर मरणोत्तर संस्कार कालिदास ने 'विधि-पूर्वक' सम्पन्न कराने की सावधानी बरती है। रघुवंश, कुमारसंभव, शाकुन्तल आदि कृतियो में धर्मशास्त्र के आचारों के साथ वैदिक भावना का समन्वय करके कालिदास ने अपने जीवन-दर्शन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति की है।

यह निर्विवाद है कि कालिदास के इष्ट भगवान् शिव थे। इस दृष्टि से शैव होते हुए भी कालिदास ने शिव के साथ विष्णु और ब्रह्मा का सामंजस्य स्थापित किया है। कुमारसंभव, रघुवंश में शिव के महिमामय वर्णन के साथ ही विष्णु के अनवधारणीयरूप का वर्णन, राम को विष्णु का अवतार मानना तथा देवताओं द्वारा ब्रह्मा का महिमामय वर्णन कालिदास की समवन्य भावना के ज्वलंत प्रमाण हैं।

प्रकृति और संस्कृति

कालिदास ने प्रकृति को सृष्टि की निसर्ग व्यवस्था और संस्कृति को उस व्यवस्था की भूमिका में मानवीय मर्यादाओं की प्रतिष्ठा मानकर दोनों का सुन्दर समन्वय किया है। ठीक भी है। यदि संस्कृति की उपेक्षा कर प्रकृति का आश्रय लिया जाय तो जीवन पशुवत् हो जाय और प्रकृति की उपेक्षा कर यदि सांस्कृतिक चेतनाओं को बढ़ाया जाये तो जीवन एक असम्भव अध्यात्म बन जाय। इसलिए प्रकृति और संस्कृति दोनों में समन्वय-भावना रखना ही मानव जीवन का दर्शन होना चाहिए। प्रकृति और संस्कृति दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जीवन में दोनों का सन्तुलन बनाये रखना ही मानव-धर्म है, मानवता है।

शास्त्रों ने प्रकृति को दो तरह का माना है। एक तो वन, पर्वत, नदी, नद आदि दृश्यमान पदार्थों के रूप में बाह्य प्रकृति और दूसरी काम, क्रोध आदि प्रवृत्तियों से युक्त मानव स्वभाव में निहित अन्तः प्रकृति। कालिदास ने अपनी रचनाओं में दोनों प्रकार की प्रकृतियों में सन्तुलन बनाए रखने के लिए दोनों का वर्णन बड़ी उदारता से किया है। भारतवर्ष का प्राकृतिक वर्णन करते हुए कालिदास ने प्राकृतिक सौन्दर्य के जो चित्र अंकित किए हैं उनके सामने अजन्ता, एलोरा के गुफा-चित्र और ताजमहल की पच्चीकारी नीरस और फीकी जान पड़ती है। बाह्य प्रकृति की भाँति ही मानवीय प्रकृति का भी सूक्ष्म सजीव चित्रण करने में कवि अद्वैत रहा है। उनके शृंगार-काव्य की परिणति जब करुणा में होती है उस समय काव्य सजीव बनकर पाठक को बरबस भावविभोर बना देता है। योग और तप को जीवन का चरम लक्ष्य मानते हुए भी कवि ने चित्तवृत्तियों के बलात् दमन का समर्थन न करके एक मर्यादा के अन्दर उनका समादर किया है। काम को पवित्र भाव मानकर कालिदास ने योग और भोग, प्रकृति और संस्कृति में सामंजस्य, संतुलन की स्थापना की है। एक ओर कवि ने प्रजायै गृहमेधिनाम् कहकर रघुवंशियों के चरित्र का आदर्श स्थापित किया है तो दूसरी ओर शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप का परिष्कार करके दुष्यन्त के उच्छृंखल चरित्र का परिष्कार किया है। धर्म को माध्यम बनाकर कालिदास ने प्रकृति और संस्कृति का समन्वय किया है।

योग और भोग, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, रुचि और विधि के समन्वय में कालिदास की दृष्टि सदा सांस्कृतिक रही है।

नृपतंत्र और लोकतंत्र

कालिदास की कृतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक ऐसे युग के प्रतिनिधि थे जिसे नृपतंत्र और लोकतंत्र की संधि कहा जा सकता है। उस काल में शुंग साम्राज्य, खारवेल साम्राज्य के साथ मालवगणतंत्र भी जीवित और जागरूक था। कालिदास की राजनैतिक विचारधारा इन दो विपरीत राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य सेतु बनी हुई थी। उन्होंने अपने काव्य में दोनों का उचित और सम्यक् समन्वय किया है। 'शास्त्रविहित नैतिक शिक्षा काव्यरस में मिश्रित कर दी जाती है तो वह मीठी बनकर सबको प्रिय लगती है। कड़वी दवा में जब शहद मिला दिया जाता है तो बालक भी हंसता हुआ पी जाता है।' इस सिद्धान्त का अनुसरण कालिदास की समन्वय भावना ने किया है। एक ओर कवि जहाँ नृपतंत्र की प्रशंसा करते हुए राजसत्ता को राजा में निहित देखकर 'नरेन्द्र मूलायतनम्' एवं 'पार्थिव श्री:' का उल्लेख करते हैं तो अन्यत्र 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते' कहकर राजनैतिक पद को योग्यता मनुष्य के गुणों से निर्धारित करने की बात कहते हैं। वंशानुगतपरम्परा और वयोवृद्ध होने का दावा स्वीकार करते हुए भी कालिदास ने उसमें संशोधन जोड़ दिया 'तेजसां हि न वय: समीक्ष्यते'। अर्थात् हम से कोई छोटा भी न हो, किन्तु वह यदि तेजस्वी है, गुणवान् है तो उसकी उम्र न देखकर उसका सम्मान उसकी तेजस्विता के आधार पर करना चाहिए।

नृपतंत्र ठीक है, राजा का पद होना चाहिए किन्तु किस तरह का? कालिदास कहते हैं—जिस तरह बादल समुद्र से पानी ग्रहण करते हैं और लोकहित के लिए फिर उसी को बरसा देते हैं। वे स्वयं उस पानी का उपभोग नहीं करते हैं। इसलिए राजा जो कर ग्रहण करे वह अपने हित में खर्च न करे जनकल्याण के कामों में खर्च करे—'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'। राजा महान् होता है, विद्वान् होता है। उसे ब्रह्मा बड़े जतन से रचता है—'तं वेधा विदधे नूनं महाभूत समाधिना। लेकिन कोई कितना महान् और विद्वान् क्यों न हो उसका निर्णय भी गलत होना संभव है।

इसलिए सामूहिक विचार करना आवश्यक है—'सर्वज्ञस्यान्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय' महान् और गुणवान् अथवा सत्तावान् होने से ही कोई असाधारण या महनीय नहीं हो सकता है। उसकी महत्ता तो तब समझी जाती है जब वह अपने से लघु व्यक्तियों को अपने समान हो समादर प्रदान करता है—'क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसा सतीव।'

राजा सर्वोच्च सत्ताधिकारी और न्यायमूर्ति होता है, किन्तु यदि राजा को अपने सम्बन्ध में न्याय कराना हो तब? इसका समन्वयात्मक समाधान कवि ने मालविकाग्निमित्र नाटक में दो नाट्याचार्यों के विवाद के प्रसंग में किया है। एक नाट्यचार्य राजा का है और दूसरा रानी का। दोनों अपने-अपने को बड़ा कहते हैं, किसी एक की हार राजा या रानी की पराजय है। उनके विवाद का फैसला राजा और रानी के विवाद का फैसला होता है। ऐसि स्थिति में कालिदास संन्यासिनी को निर्णायक बनाकर यह सिद्ध करते हैं कि राजा और रानी के बीच के विवाद पर कोई तटस्थ व्यक्ति निर्णय देने का अधिकारी होता है।

कालिदास की कृतियों से स्पष्ट विदित है कि वह जीवन के हर क्षेत्र में सन्तुलन और समन्वय बनाए रखने के पक्षपाती रहे हैं। उनका ऐसा एक भी वर्णन नहीं है जो समन्वय भावना से रहित हो।

कालिदास मानव और मानवता के ही नहीं, बल्कि समस्त चराचर जगत् के कल्याण-मित्र थे। उनकी कविदृष्टि हर वस्तु को उदारता और आत्मीयता से देखती है। उसे हर वस्तु उदार और त्यागशील दिखायी पड़ी। उनका दृष्टिकोण अस्तित्व की सफलता लोक कल्याणार्थ त्याग में निहित है।[1]



१. रघुवंश में—त्याग एव हि रक्षणम्।
सहस्रगुणमुत्सृष्टुमादत्ते हि रसं रविः।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।

With Best Compliments From
Sri Gokuldas Prabhu (writer)
Mangaluru